पद्मराग

[छ कलापूर्ण कहानियाँ]

पंडित नन्दकिशोर तिवारी, बी० ए०

भूतपूर्व सम्पादक—'महारथी', 'कर्मयोगी', 'चाँद', 'सुधा' आदि ;

तथा

[बिहार-सरकार के भूतपूर्व हिन्दी-पब्लिसिटी-अफसर]

पुस्तक-भंडार

लहेरियासराय और पटना

१।)

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

लहेरियासराय और पटना

प्रथम संस्करण

संवत् २००० वि०

सन् १९४३ ई०

मुद्रक--श्री जयनाथ मिश्र, हिमालय प्रेस, पटना

दो शब्द

इस पुस्तक में मनोहर कलापूर्ण कहानियाँ संगृहीत हैं। इनके लेखक श्रीतिवारीजी बिहार के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कलाकार हैं। उनकी लेखनी बड़ी शक्तिशालिनी है। उनकी भाषा बड़ी सुहावनी है। उनकी रचनाशैली बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी है। वे केवल कहानी लेखक ही नहीं, कवि भी हैं। इन कहानियों में इसका प्रमाण मिलेगा। और, इन कहानियों के गद्य में भी कहीं-कहीं उनके कवित्व का आभास मिल जायगा। प्रेम के उभय पक्ष का चित्र अंकित करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

हिन्दी-संसार के यशस्वी पत्रकारों में उनका आदरणीय स्थान है। वे महारथी (दिल्ली), चाँद (प्रयाग), सुधा (लखनऊ) आदि के सम्पादक रहकर प्रभूत यश प्राप्त कर चुके हैं। उनकी 'स्मृति-कुंज' नामक पुस्तक हिन्दी में एक अनूठी वस्तु है। किन्तु इन कहानियों को पढ़कर स्वभावतः यह धारणा होती है कि वे यदि हिन्दी संसार से संन्यास लेकर एकान्तवास कर रहे हैं, तो हिन्दी के प्रति उनका यह उचित न्याय नहीं है। जिसमें ऐसी प्रखर प्रतिभा हो, जिसकी भाषा में इतनी प्रौढ़ता और सरसता हो, जिसकी कल्पना इतनी ऊँची और मधुर हो, वह यदि मातृभाषा की सेवा से विरक्त हो जाय, तो खेद की ही बात है। यद्यपि मुझे ऐसी आशा नहीं है, तथापि उनको सम्प्रति हिन्दी-साहित्य-जगत् से पृथक् देख-कर चिन्ता होती ही है। वे यदि फिर लेखनी उठायें तो बिहार की बड़ी गौरववृद्धि होगी। आशा है, उनकी इन कहानियों को पढ़कर पाठक मेरी बात का अनुमोदन करेंगे और उनसे अनुरोध भी करेंगे कि वे ऐसी-ऐसी मीठी-अनूठी कहानियाँ फिर लिखना शुरू करें।

राजेन्द्रकालेज
छपरा, संवत् २०००

शिवपूजनसहाय

विषय-सूची

रूप की रानी

[एक मर्मस्पर्शी अबीसीनियन प्रणय-कहानी]

[अबीसीनिया की सभ्यता पुरानी है—ग्रीक सभ्यता और इस कारण समस्त यूरोपीय सभ्यता से भी पुरानी। अबीसीनिया-वासी इस बात को अत्यन्त गौरव के साथ कहते हैं कि उनके राजा प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट् सॉलोमन (Soloman) के वंशज हैं। यह सम्राट् सॉलोमन एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। इसकी कीर्त्ति, इसके राज्य-वैभव, इसके साम्राज्य-विस्तार एवं इन सभी बातों से अधिक महत्त्वपूर्ण इसके न्याय और इसकी बुद्धिमत्ता की कहानियाँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि वे केवल इतिहास की ही बात नहीं, वरन् शताब्दियों की परम्परा में दन्तकथाओं की अत्यन्त रोचक सामग्री बन गई हैं। सम्राट् सॉलोमन का राज्यकाल ईसा के एक सहस्र वर्ष पूर्व है। इसका पिता डेविड और इसकी माता बाथशेबा (Bathsheba) थी। यह अपने पिता डेविड के इसरायल (Israel) राज्य का उत्तराधिकारी भी

था। सॉलोमन के राज्यकाल में इसरायल की राज्य-मर्यादा अपने वैभव की पराकाष्ठा पर थी। पुरानी और नई बाइबल (Old and New Testaments) के अतिरिक्त साधारणतः ईसाई और मुस्लिम साहित्य और विशेषकर यहूदी साहित्य सम्राट् सॉलोमन के यश-सौरभ से भरा पड़ा है। भारत और कदाचित् सुदूरपूर्व के समस्त देशों के अतिरिक्त प्राय: समस्त सभ्य संसार के समकालीन राजागण सम्राट् सॉलोमन के पास अमूल्य उपहारों को लेकर उससे बुद्धि प्राप्त करने अथवा उसका वैभव देखने जाते थे। कहते हैं, वह पशु-पक्षी की भाषा जानता था और जगत्-ज्ञान के अतिरिक्त अध्यात्म-ज्ञान का पण्डित था। दन्तकथा यहाँ तक प्रसिद्ध है कि पशु-पक्षी भी उसकी आज्ञा का पालन करते थे। एक बार उसके दरबारियों ने उससे अबीसीनिया की अत्यन्त सुन्दरी कुमारी महारानी के सम्बन्ध में कहा और उसने महारानी को अपने यहाँ बुलाकर उससे मिलने की इच्छा प्रकट की। इधर उक्त कुमारी महारानी माकेडा (Makeda) ने भी अपने परीक्षित भक्त और सेवक, व्यापारी टामरिन के मुँह से सॉलोमन के रूप, यौवन, बल, वैभव एवं बुद्धि की बात सुनी, तो उसका हृदय एक अज्ञात कौतूहल एवं एक अपरिचित आकर्षण से भर गया। वह बहुमूल्य उपहारों के साथ, भिन्न-भिन्न देशों को पार करते हुए, सॉलोमन के राज्य में उससे मिलने गई। उस रहस्यमय, अद्भुत एवं मर्मस्पर्शी मिलन तथा उस मिलन के परिणाम की सच्ची कहानी सम्राट् सॉलोमन की ऐतिहासिक दन्तकथाओं के आधार पर यहाँ लिखी गई है।]

वसन्त अपने समस्त वैभव के साथ इथिओपिया के राज्योद्यान में उतरा था। वसन्तसेना इथिओपिया की समस्त भूमि के कण-कण में निराकार रूप से व्याप्त हो गई थी। पीली, हरी, लाल, सफेद, बैगनी और अनेक इन्द्रधनुषी रङ्गोंवाली तितलियाँ सहस्रों की संख्या में ऊपर उड़ रही थीं। महारानी माकेडा उद्यान के राजकीय आसन पर बैठी थीं। पास ही महारानी का विश्वस्त एवं परीक्षित अनुचर व्यापारी टामरिन कालीन पर नीचे बैठा था।

"ये सुनहली तितलियाँ सॉलोमन के मंडप बुन रही हैं।"—मुस्कुराते हुए तथा महारानी के चरणों के अधिक निकट बैठते हुए व्यापारी टामरिन ने कहा।

"सॉलोमन कौन है?"—अँगड़ाई लेते हुए महारानी ने पूछा।

टामरिन की मुस्कुराहट हँसी में परिणत हो गई। वह जोर से हँस पड़ा। पचास वर्ष का अधेड़ था वह। बाल बड़े-बड़े और नाक निकली हुई। विनोद उसकी नस-नस में भरा था। महारानी को उस समय उसका विनोद अच्छा न लगा। उनकी भौंहें कुछ तन गईं। कुछ रुखाई से उन्होंने पूछा—"क्यों हँसते हो टामरिन?"

"क्योंकि, मेरी अच्छी महारानी, आप उस संसार को नहीं जानतीं, जो सॉलोमन को जानता है। आपको अपने उद्यान में बैठा रहना ही अच्छा लगता है।"

"यह सत्य नहीं है। ऐसा कोई सप्ताह नहीं व्यतीत होता जिसमें मैं अपनी राजधानी की उन्नति न करती होऊँ......।"

"निश्चय ही...आपकी यह राजधानी अद्भुत् है। मैं इसे अस्वीकार नहीं करता......।"

"ठहरो, मैंने अपनी बातें अभी समाप्त नहीं कीं। मैं अपनी समस्त दुर्गम पहाड़ियों, अपने समस्त अभेद्य जङ्गलों को जानती हूँ। उन पहाड़ियों के बर्फ पर उगनेवाले छोटे-छोटे सुन्दर फूलों को जानती हूँ। नदीतट पर बसे हुए जंगलों में छिपनेवाले गैंडों को और उन जल-पक्षियों को भी मैं जानती हूँ जो मगरों के मुख साफ करते हैं। मैं केवल अपने उद्यान में ही नहीं बैठी रहती, मैं संसार की बातें भी जानती हूँ।"—महारानी माकेडा ने बात काटते हुए कहा ;

"मैं स्वीकार करता हूँ, मेरी अच्छी महारानी इथिओपिया—इथिओपिया के संसार को जानती हैं......पर इथिओपिया के बाहर जो संसार बसा है उसकी बातें वे नहीं जानतीं। यदि ऐसा होता तो सम्राट् सॉलोमन को अवश्य जानतीं।"—नत-मस्तक हो बड़े मधुर और विनम्र शब्दों में टामरिन ने कहा।

"क्या यह सॉलोमन मेरा कोई सरदार है? फिर वह मेरी अभ्यर्थना करने क्यों नहीं आया? और यह मंडपवाली तुम्हारी मूर्खता-भरी बातें कैसी हैं!"—घृणा और आवेश से भरे शब्दों में महारानी ने पूछा। इसके बाद वे अपने चँदोवावाले मंडप को देखने लगीं। असंख्य बहुमूल्य हीरे और मोतियों के बन्दनवार से आभूषित वह मंडप अपनी कारीगरी में अद्भुत था। भिन्न-भिन्न

अत्यन्त कीमती रेशमी कपड़ों पर इथिओपिया के आकाश-मंडल के समस्त ग्रह और नक्षत्र चित्रित थे !

महारानी ने अपने उद्यान के उस चँदोवावाले मंडप की ओर संकेत करते हुए कहा—"इस संसार में इससे सुन्दर मंडप किसी को भी नहीं मिल सकता।"

कुछ देर रुककर बोलीं—"परन्तु टामरिन, मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि तुम विदेशों से लौट आए। मुझे तुमसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर राय लेनी है। तुम जानते हो, लोगों के इस आग्रह से मैं तङ्ग आ गई हूँ कि मैं शीघ्र से शीघ्र इथिओपिया की राजगद्दी के लिए एक उत्तराधिकारिणी दूँ। जिन राजाओं को वे भेजते हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं जो मुझे पति के रूप में स्वीकार हो।"

इतना कहकर महारानी शान्त हो गईं और उनकी आँखें ऊपर उठकर उन असंख्य तितलियों के नृत्य में गड़ गईं। ध्यान भङ्ग होने पर महारानी ने पुनः पूछा—"क्यों टामरिन, इस सॉलोमन का मंडप कैसा है ?"

राजभक्त और अनुचर टामरिन ने विनम्रतापूर्वक कहा—"जब सम्राट् सॉलोमन अपने उद्यान में विश्राम करने जाते हैं और जब वे धूप से तङ्ग आ जाते हैं तो शीघ्र ही जादू वाली अपनी अँगूठी दबा देते हैं। ऐसा करते ही आकाशमार्ग की सभी दिशाओं से पक्षी आकर अपने पर इस प्रकार एक दूसरे से जोड़ देते हैं कि धूप का कहीं नाम भी नहीं रहता !"

महारानी ने कौतूहल और आश्चर्य से भरी आँखों से टामरिन की ओर देखा। बोलीं—क्या यह सच है टामरिन ?

"मेरी अच्छी सम्राज्ञी, आपकी बुद्धि मुझसे कहीं अधिक प्रशस्त और प्रखर है। क्या आप समझती हैं, यह सच है ?"

"यदि लोग उसके सम्बन्ध में ऐसी कहानियाँ कहते हैं तो वह अन्य राजाओं से भिन्न पुरुष होगा !"—महारानी ने धीरे से कहा।

"निश्चय ही।"

"क्या वह सुन्दर है !"

"वे गौरवर्ण हैं; उनकी आँखें बादाम के आकार की भाँति हैं और उनके हँसते ही उषा खिल उठती है।"

"उसे मेरे पास भेज दो टामरिन।"—महारानी ने दृढ़ता-पूर्वक कहा।

"वे नहीं आएँगे, महारानी।"

"फिर सेना भेज, उसे बन्दी के रूप में यहाँ उपस्थित करो; परन्तु तुम हँसते क्यों हो ?"

टामरिन कौतूहल से इतना हँस रहा था कि उसका समस्त शरीर हिलने लगा। उसकी हँसी के प्रभाव में आकर महारानी स्वयं हँसने लगीं। उसके बाद वे चुप हो गईं और टामरिन के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगीं।

टामरिन अभी हँस ही रहा था। यद्यपि एक सम्राज्ञी के सम्मुख अपने भृत्य का इस प्रकार हँसना अभद्र था; परन्तु टामरिन उनके विशेष कृपापात्र अनुचरों में था।

एक बार राज्यारूढ़ होने के कुछ महीनों बाद जब महारानी के कुछ पहाड़ी सरदारों ने उनके विरुद्ध विद्रोह किया था और जब विद्रोहियों के द्वारा उनकी सेना हरा दी गई थी, टामरिन ने अपनी जान पर खेल कर उनके सतीत्व की रक्षा की थी। रात का समय था वह, जब टामरिन की सहायता से पंचदशवर्षीया महारानी ने स्वयं उस विद्रोही सरदार की हत्या की थी। महारानी यह बात सोच रही थीं, टामरिन हँसता जा रहा था। अन्त में बड़ी गम्भीर मुद्रा से महारानी ने पुन: पूछा—"क्यों हँसते हो टामरिन?"

"क्योंकि सम्राट् सॉलोमन ने आपके प्रति प्राय: इन्हीं शब्दों का व्यवहार किया था। उन्होंने कहा था—"मैं उसे यहाँ उपस्थित करने के लिए सेना भेजूँगा।"

टामरिन की बातें सुनते ही महारानी की त्योरियाँ चढ़ गईं, उनकी गम्भीर मुद्रा नष्ट हो गई। मालूम हुआ, मानों उनका अलौकिक रूप उनके यौवन के प्याले में एक बार सिहर उठा। यह सिहरन कितना सुन्दर, कितना उन्मादकारी था। महारानी ने अपना पहला प्रश्न फिर भी दुहराया—

"यह सॉलोमन कौन है टामरिन?"

महारानी माकेडा के इस प्रश्न का उत्तर देने में टामरिन को एक सप्ताह लगा। नित्य दोपहर को अपने दरबार के कार्य से छुट्टी पाकर विश्राम करते समय वे टामरिन के मुँह से सॉलोमन की कहानियाँ

सुनतीं। कभी-कभी रजनी की नीरवता में भी, जब चन्द्र-ज्योत्स्ना अपने तरल माधुर्य से मिमोसा की हिम-धवल कलियों को धोती रहती, जब उस एकान्त में राजप्रासाद की सङ्गमर्मरवाली छत पर आकाश से दूध का निराकार सागर गिरता होता और जब चन्द्र-रश्मियाँ महारानी के सुर-दुर्लभ रूप-लावण्य पर गिरकर धूमिल हो जातीं; वे अपने मुखमंडल को दोनों हथेलियों में छिपाकर टामरिन के मुँह से सॉलोमन की कहानियाँ सुनती।

एक ऐसी ही रात को टामरिन सॅालोमन के विषय में कह रहा था। उसका चेहरा आत्मगौरव से भर उठा। बोला—"पहले स्वयं मैं सम्राट् सॉलोमन के पास नहीं गया। उन्होंने मुझे पहले-पहल आप ही बुलाया। उस समय मैं लिबेनन-प्रान्त के उत्तर में व्यापार कर रहा था कि उनका दूत मेरे पास आया। उन्हें रक्तस्वर्ण, हाथी-दाँत और नीलमों की आवश्यकता थी; परन्तु इन सबसे अधिक उन्हें सागवान की आवश्यकता थी। वे एक बहुत बड़ा घर बना रहे थे।.........।"

"तब क्या उसे राजप्रासाद नहीं है—तुम्हारे इस छोटे राज को......?"—बात काटते हुए महारानी माकेडा ने पूछा।

"उनके एक सहस्र और एक राजप्रासाद हैं।"

"ऐसी मूर्खता-भरी बात मैं नहीं सुनना चाहती, टामरिन!"

"परन्तु सम्राज्ञी......?"

"बोलो"

"यदि ऐसा न होता तो वे अपनी पत्नियों को कहाँ रखते, उन पत्नियों को जिनकी संख्या एक सहस्र है ?"

"पत्नियों की संख्या या राजप्रासादों की ?"

"दोनों की, मेरी अच्छी सम्राज्ञी ! रहिए, मुझे गिनाने दीजिए। एक फारस की रानी, एक मिस्र की राजकुमारी, एक मङ्गोल की सरदारिन। इनके बाद कैथेई, फारस, द्वीपसमूह, ग्रीस की राजकुमारियाँ; काकेशस की दो श्वेताङ्ग रानियाँ; इनके अतिरिक्त कनानात, मोब्रात, अरब, सीरिया की राजकुमारियाँ.........।"

"और चन्द्रलोक की भी ?"—व्यंग्य और उपहास के स्वर में सम्राज्ञी ने बात करते हुए कहा—"निश्चय ही तुम्हारा यह सालोमन एक अशिष्ट और घृणित व्यक्ति जान पड़ता है टामरिन।"

"सबके साथ वे विनम्र और मिष्टभाषी हैं। उनकी हँसी......।"

"तुम उसके राजप्रासादों के विषय में मुझसे कहते थे टामरिन।"—बात काटते हुए सम्राज्ञी ने कहा।

"हाँ, उन्होंने अपनी प्रत्येक पत्नी के लिए महल बनाये। उन राजप्रासादों में कुछ तो अद्भुत् थे—कोई स्वर्ण-महल, कोई रजतमहल, कोई-कोई भिन्न-भिन्न रंग के सङ्गमर्मर का बना हुआ, कोई हाथीदाँत का, कोई लकड़ी का—तात्पर्य यह कि सभी महल एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनमें अद्भुत चित्रकारी है। एक पत्नी के......।"

"हाय ! पत्नी के रूप में वे अभागी बन्दिनी चिड़ियाँ !"—बात काटते हुए सम्राज्ञी ने कहा। उनकी कोमल कलाइयों पर उनका प्यारा

कबूतर ठीक इसी समय उड़ता हुआ आ गया। उसे प्यार करते हुए उन्होंने आज्ञा दी—"आगे कहो टामरिन।"

"एक पत्नी के लिए तो उन्होंने पक्षियों की हड्डियों का महल बनाना आरम्भ किया था।"

"कठोर······निर्दय······राक्षस"—अपने प्रिय कपोत को चूमते हुए उन्होंने कहा। महारानी का समस्त शरीर काँप उठा।

"परन्तु अपने इस कार्य के लिए सम्राट् को पीछे बहुत पश्चात्ताप हुआ।"

"होना ही चाहिए।"

"अभी महल बनना आरम्भ ही हुआ था कि सम्राट् की आज्ञा से काम बन्द कर दिया गया। सम्राट् सॉलोमन को जितना शीघ्र क्रोध आता है उससे भी अधिक शीघ्र उस क्रोध के लिए उनके कोमल हृदय में पश्चात्ताप की ज्वाला धधक उठती है। सभी स्त्रियों के प्रति उनका स्नेह है, फिर भी किसी विशेष स्त्री से अभी तक उनका प्रेम नहीं हुआ।······परन्तु महान् सम्राज्ञी, मैंने सुना नहीं, आपने क्या कहा। मुझसे चूक हो गई।"

"मैंने कुछ भी नहीं कहा, मैंने शायद जँभाई ली थी। सॉलोमन, नहीं—नहीं, टामरिन मेरा आशय तुमसे था······हाँ, तो तुम्हारा निस्स्वार्थ सॉलोमन आखिर अपने लिए घर बना रहा है?"

"नहीं, अपने लिए नहीं, भगवान के लिए।"

"अच्छा ! क्या वह भी मेरे पति भगवान सूर्य* की उपासना करता है ?"

"नहीं, वे उस भगवान की उपासना करते हैं, जिन्होंने सूर्य और चन्द्रमा को बनाया है।"

"उस भगवान का क्या नाम है टामरिन ?"

"उस भगवान का नाम नहीं लिया जाता सम्राज्ञी, परन्तु उसका गुण अथवा विशेषण ज्ञान है !"

"उस ज्ञान का कैसा आकार है टामरिन ?"

"सम्राज्ञी, इसे आप सम्राट् सॉलोमन से पूछें।"

"टामरिन, तुम पागल हो गये हो। मैं फिर तुमसे उस छोटे राजा के सम्बन्ध में कभी बातें न करूँगी जिसके झूठे प्रभाव में तुम अपनी इस विगत व्यापारयात्रा में आ गये हो। हाँ, कदाचित् तुम भूल गये हो कि कल स्वयंवर होने वाला है, जब कि मुझे पति के रूप में किसी राजकुमार को वरण करना होगा। परन्तु टामरिन, मैं अभी ऐसा

---

* उस समय अबीसीनिया के लोग सूर्य की ही, भगवान के रूप में, उपासना करते थे। सूर्यदेव ही उन लोगों के भगवान थे। अबीसीनियाँ की राजगद्दी पर उस समय कोई राजा नहीं बैठता था। उसकी अधिकारिणी केवल महारानी होती थी। यह महारानी सूर्यदेव की पत्नी समझी जाती थी; परन्तु सूर्यदेव के प्रतिनिधि-स्वरूप उसे किसी एक राजा अथवा सरदार को चुन कर उससे विवाह करना पड़ता था, जिससे वह अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी दे सके। —लेखक

करना नहीं चाहती। यह कुमारी-जीवन ही मुझे सुन्दर लगता है। तुम्हें भी इसके प्रतिकूल मुझे विवश नहीं करना चाहिए।"

इसके बाद टामरिन चला गया। दूसरे दिन स्वयंवर लगा। बहुत-से राजकुमार एकत्र हुए थे। सम्राज्ञी माकेडा ने किसी को भी पसन्द न किया। स्वयंवर उठ जाने के बाद महारानी अपने अन्तःपुर में चली गईं। फिर रजनी की नीरवता में, जब चन्द्रदेव आकाश में पूरा उठ चुके थे, महारानी माकेडा अपना सुनहला राजकीय वस्त्र पहने राज्योद्यान में आईं। टामरिन उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। महारानी के आते ही उसने अभ्यर्थना-पूर्वक उनका अभिवादन किया।

"बोलो टामरिन ?"—थके हुए स्वर में महारानी माकेडा ने कहा।

"उन राजकुमारों के साथ आपने बहुत निष्ठुर व्यवहार किया। यदि मैंने बहुत विनम्रता-पूर्वक उन्हें रोक नहीं लिया होता तो वे बहुत क्रुद्ध होकर आज चले गए होते। मैंने उन्हें वचन दिया है कि कल पुनः स्वयंवर होगा और इथिओपिया की महान् सम्राज्ञी पुनः एक बार अपने निर्णय पर विचार करेंगी।"

"यह तुम्हारी धृष्टता है टामरिन—अपनी महान् सम्राज्ञी के प्रति तुम्हारी धृष्टता-पूर्वक उद्दंडता है !"

"परन्तु मेरी उदार सम्राज्ञी......?"

"बोलो।"

"इथिओपिया को एक उत्तराधिकारिणी शासिका चाहिए; समस्त प्रजा, सभी सरदार एवं सामन्त इसके लिए व्यग्र हैं।"

"परन्तु मैं तो भगवान सूर्य की पत्नी हूँ टामरिन—मैं तो सूर्यदेव की विवाहिता हूँ।"—सम्राज्ञी के स्वर में गम्भीर वेदना थी।

"उस भगवान सूर्य की पत्नी जिन्हें प्रथा के अनुसार अपने लिए उनका एक उत्तराधिकारी चुनना आवश्यक है।"—बात काटते हुए टामरिन ने कहा।

"इन प्रथाओं से मैं घृणा करने लगी हूँ टामरिन।"

"जो कुछ भी हो, परन्तु अपनी प्रजा के कल्याण के लिए कल मेरी महान् सम्राज्ञी को इन राजकुमारों से पुनः मिलना होगा।"

इस दुखद समस्या से तिलमिला कर महारानी लेट गईं। उनका अभ्यन्तर सहसा काँप उठा। अपनी हिमश्वेत हथेलियों से अपना चन्द्रमुख ढँक लिया। थोड़ी देर के बाद पुनः बोलीं—"टामरिन, अपनी यात्रा की कुछ कहानियाँ सुनाओ।"

"क्या कल स्वयंवर होगा महारानी?"

"टामरिन, मुझे उस बेचारे सॉलोमन की कथा सुनाओ। क्या उसे भी तङ्ग करने के लिए तुम्हारी भाँति कोई दुष्ट टामरिन है?"

"कल निश्चय ही...कल निश्चय ही स्वयंवर करना होगा, मेरी प्यारी सम्राज्ञी!"

"उफ! इस स्वयंवर से कहीं अच्छा होगा कि मैं तुम्हारे सॉलोमन के पास चली जाऊँ।"

टामरिन की आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं। एक सप्ताह के कठिन परिश्रम के बाद उसे अब अपने भावों को व्यक्त करने का अवसर

मिला था। सम्राट् सॉलोमन के साथ राजकीय सन्धि कर लेने पर महारानी को जो-जो सुविधाएँ प्राप्त होंगी, उनकी चर्चा करते हुए बोला—"शेबा (Sheba) की महान् सम्राज्ञी, दुर्गम पहाड़ों और जलती हुई मरुभूमि से घिरा हुआ हमारा देश बाह्य संसार से इस प्रकार पृथक् है कि उसके भिन्न-भिन्न परिवर्तनों तथा उसकी किसी प्रकार की उथल-पुथल का हमें तनिक भी ज्ञान नहीं हो पाता। एक सप्ताह हुआ, आपने मुझसे पूछा था—"टामरिन, यह सॉलोमन कौन है?" संसार के शासक-मंडल में केवल आप ही एक ऐसी हैं, जिसे इस प्रश्न के लिए क्षमा प्रदान की जा सकती है, अन्यथा यद्यपि सम्राट् सॉलोमन एक छोटे देश पर शासन करते हैं, फिर भी संसार के समस्त शासकों ने उनकी अधीनता स्वीकार की है और जब वे सम्राट् सॉलोमन की अभ्यर्थना करने के लिए उनके सामने जाते हैं तो भय से उनकी छाती धड़कने लगती है—उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इतने शक्तिशाली एवं पराक्रमी होने पर भी वे इतने बड़े न्यायी हैं कि वेश्याएँ भी उनके पास न्याय के लिए जाती हैं और सत्यतः न्याय पाती भी हैं। मैंने इन दृश्यों को अपनी आँखों देखा है। उदाहरण के लिए, यदि आपके पास एक नवजात शिशु की माँ बनकर दो नवयुवतियाँ आवें तो आप किस प्रकार उस बालक की असली माँ को पहचान कर उसे सच्ची माँ के हवाले कर देंगी?"

महारानी कुछ चिन्तित हो गईं। पुनः ठहर कर बोलीं—"मैं साक्षियों के प्रमाण माँगूँगी।"

"और यदि वे दोनों नवयुवतियाँ अपने घरों में अकेली रहती हों, यदि उस बालक का पिता अज्ञात हो अथवा यदि उन्हें कोई साक्षी न मिल सके, उस दशा में आप क्या करेंगी ?

महारानी ने सिर हिलाते हुए कहा—"उस दशा में क्या करना होगा, यह मुझे नहीं मालूम। हाँ, उस समय शारीरिक कष्ट देकर काम लिया जायगा।"

"परन्तु शारीरिक कष्ट से प्रमाण नहीं मिलता।"

"हाँ, तुम्हारी बात ठीक है टामरिन, शारीरिक कष्ट देकर दस्युओं से झूठ-सच, कोई भी बात कहला सकते हो। परन्तु......परन्तु तुम्हारे ज्ञानी सॉलोमन ने इसका किस प्रकार निर्णय किया था ?"

"उन्होंने उन दोनों से उस बालक को दो टुकड़े कर देने को कहा।"

"क्रूर......निष्ठुर......निर्दय !"

"नहीं, सम्राट् के इस निर्णय पर नकली माँ प्रसन्न हो गई; परन्तु असली माँ ने उस शिशु की जीवन-रक्षा के लिए उससे अपना अधिकार हटा लिया।"

सम्राज्ञी की आँखें प्रसन्नता और सन्तोष से चमक उठीं। बोलीं—"यह पुरुष नारी-हृदय को पहचानता है। यद्यपि मैं स्वयं नारी हूँ, पर मैंने भी इतना सुन्दर निर्णय नहीं किया होता। क्या इसकी माँ बड़ी बुद्धिमती थी टामरिन ?"

"सम्राट् सॉलोमन की माँ, बाथशेबा, अपने यौवनकाल में एक

सुन्दर स्त्री थी, पर अन्य स्त्रियों से अधिक बुद्धिमती नहीं। वह उतना योग्य न थी जितना उसके पति डेविड को उसके लिए कष्ट उठाना पड़ा। सम्राट् सॉलोमन यह बात जानते हैं, फिर भी बाथशेबा को प्यार करते हैं और उसे प्रसन्न भी रखते हैं।"

"क्या वह अपनी रानी को प्यार करता है?"

"उसने अभी तक अपनी किसी भी स्त्री को रानी नहीं बनाया।"

महारानी सँभल कर बैठ गईं। उनका हृदय एक अज्ञात आन्दोलन, एक अज्ञात आकांक्षा से आन्दोलित हो उठा। उनका समस्त शरीर अनायास सिहर उठा। उनकी कोमल स्वर-ध्वनि में एक विचित्र उद्वेग, एक विचित्र कम्पन था। वे कह रही थीं—"टामरिन, मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि यह सॉलोमन संसार में सबसे ज्ञानी और बुद्धिमान पुरुष है...टामरिन, यदि मैं सॉलोमन से इस बात की राय लूँ कि इथिओपिया के इस वैभवशाली राज्य के लिए मुझे किस पुरुष को वरण करना चाहिए तो क्या वह बतला देगा? इथिओपिया की कल्याण-भावना ही सदा मेरे सामने है... प्यारे टामरिन, तुम्हारे हृदय में सदा मेरे प्रति निस्स्वार्थ भक्ति रही है, तुमने सदा ही कल्याण-भाव से प्रेरित हो मुझे उपयोगी मन्त्रणा दी है...परन्तु मैं तुमसे कहना चाहती हूँ कि एक सम्राट् और एक सम्राज्ञी, दोनों शासक के रूप में समान ही हैं; इस दशा में मैं सॉलोमन

के यहाँ अपने राजदूत के द्वारा बहुमूल्य उपहार भेज कर उसे यहाँ आने के लिए निमन्त्रित करना चाहती हूँ।"

"परन्तु सम्राट् सॉलोमन यहाँ नहीं आवेंगे।"

"तो क्या सॉलोमन का यह विश्वास है कि मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी?"

"मेरी प्यारी सम्राज्ञी, यह बात उन्होंने स्वयं मुझसे कही थी कि संसार में कोई भी स्त्री इतनी लम्बी यात्रा करने का साहस नहीं कर सकती। फिर भी थोड़े दिनों में वे संसार के समस्त राजाओं और रानियों को एक प्रीति-भोज देनेवाले हैं; उस प्रीति-भोज में वे आपको भी सम्मिलित होने का निमन्त्रण देंगे।"

"किस लिए यह प्रीति-भोज होगा टामरिन?"

"भगवान के मन्दिर-निर्माण के उत्सव में।"

"कैसी विचित्र बात तुम करते हो टामरिन?"

"मेरी महान् सम्राज्ञी, मेरी धृष्टता क्षमा करें। मेरा अपना विश्वास सम्राट् सॉलोमन के ही भगवान में हो गया है—उस भगवान में, जिन्होंने आपके पति सूर्यदेव को तथा आपके अमर पुत्र* इन सप्तनक्षत्रों को बनाया है। आप मेरी इन बातों में विश्वास करें महारानी!"

---

* उस समय अबीसीनिया की यह प्रथा थी कि उसकी शासिका महारानी केवल सूर्यदेव की पत्नी ही नहीं, वरन् सौरमण्डल के सप्तग्रहों की माँ समझी जाती थी।—लेखक

"धर्माध्यक्ष तुम्हें तुम्हारी इस ईश्वर-निन्दा के लिए अग्नि में जला देंगे।"—शेबा की महारानी ने शान्त भाव से कहा।

"यदि महारानी की ऐसी आज्ञा होगी, तो मुझे अग्नि में जल कर प्राण देना स्वीकार है।"

"मैं इस विषय पर सोचूँगी; परन्तु बहुत सम्भव है, कल मैं दरबार में इस बात की आज्ञा दे दूँ कि टामरिन—मेरा सच्चा और नेक टामरिन—ईश्वर-विद्रोह के लिए गगन-विचुम्बित ज्वाला-राशि में जला दिया जाये।"—शेबा की महारानी ने गम्भीर और भयानक शब्दों में कहा। यह कहते हुए वे वहाँ से चली गईं।

टामरिन ने राज्योचित शिष्टता एवं विनम्रता से सिर झुकाए ये बातें सुनीं; परन्तु जब महारानी चली गईं तो वह मुस्कुरा कर वहीं बैठ रहा। उसका विश्वास था कि महारानी उसे इतना शीघ्र छोड़ नहीं सकती।

बात भी कुछ वैसी ही थी। टामरिन ने थोड़ी देर के बाद देखा, महारानी कुछ दूर पर नीबू और अनार की क्यारियों की ओर टहल रही थीं। चन्द्रदेव आकाश के मध्य में पहुँच गए थे। महारानी घूमते हुए वहाँ पुनः आ गईं।

"टामरिन!"

"महान् सम्राज्ञी।"

"नहीं टामरिन, मैं महान् सम्राज्ञी नहीं, मैं तुम्हारी नन्हीं बेटी और तुम्हारी मित्र हूँ!"

"हाँ—मुस्कुराते हुए टामरिन ने कहा—"मैं अपनी सम्राज्ञी का मित्र हूँ।"

'मैं जानती हूँ टामरिन···मैं वह रात भूली नहीं······।"—महारानी आवेश से काँप रही थीं। उनका हाथ दृढ़तापूर्वक उस नीलम-जड़े कटार को पकड़े था, जिसे वे सर्वदा अपने पास रखती थीं।

"वह विद्रोही और दुष्ट सरदार अपनी मूर्खता में मारा गया। उसे और उस रात को आप भूल जाने की चेष्टा करें, जगत् की सर्वश्रेष्ठ महारानी!"—नैश-समीरण अपने समस्त माधुर्य के साथ मिमोसा (Mimosa) की कलियों के साथ अठखेलियाँ कर रहा था।

"मैं भूलने का यत्न करती हूँ टामरिन···मैं···परन्तु···परन्तु··· यदि मैं तुम्हारी अपनी बेटी होती······।"

"अब स्वयं शेबा की महान् सम्राज्ञी ईश्वर के विरुद्ध बातें करती हैं।"—बात काटते हुए प्रसन्न चित्त से टामरिन ने कहा।

"···तो क्या उस दशा में भी तुम मुझे सॉलोमन के पास जाने दोगे?"—कहते-कहते सम्राज्ञी का मुख-मंडल अरुण हो गया और उनकी अद्भुत् छवि और भी बढ़ गई।

"यदि वह अपनी काली प्रजा की गौराङ्गी शासिका हो, यदि वह अपनी प्रजा में सबसे ज्ञानी हो और यदि वह नवयुवती हो तथा सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा हो······!"

"परन्तु, यदि उसका हृदय आकुल और व्यग्र हो?"

"यदि उसकी आकांक्षाएँ महान् हों और उसकी चिन्तन-धारा अद्भुत् हो!"

"और यदि उसने अपने हृदय में प्रणय की ज्वाला पाली हो टामरिन?"

"तो मैं अपनी उस अलौकिक और आकुल-हृदय बेटी को स्वयं सम्राट् सॉलोमन के पास ले जाऊँगा।"

२

दूसरे दिन समस्त अबीसीनिया में यह संवाद अग्नि की भाँति फैल गया कि शेबा की महारानी, सम्राज्ञी माकेडा, भिन्न-भिन्न देशों का पर्यटन करते हुए सम्राट् सॉलोमन से मिलने जा रही हैं, जिससे वे अपने नवीन अनुभवों से अबीसीनिया में नए-नए सुधार कर सकें तथा अबीसीनिया को एक दृढ़ और शक्तिशाली राष्ट्र बना सकें। सम्राट् सॉलोमन के यहाँ जाने में छः महीने लगते थे। वहाँ छः महीनों तक रहकर सम्राज्ञी सम्राट् सॉलोमन से शासन तथा भिन्न-भिन्न विषय-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना चाहती थीं। उसके बाद अपने देश लौट आने में छः महीने और भी लगते। तात्पर्य यह कि डेढ़ वर्षों के लिए सम्राज्ञी माकेडा अपना देश छोड़ रही थीं। बाल, वृद्ध, युवक, नारी, सभी के मुँह पर यही बात थी कि लौटने पर सम्राज्ञी अपनी जल और स्थल सेना को और भी अधिक सुचारु रूप से सङ्गठित एवं शक्तिशाली बनावेंगी तथा अबीसीनिया की शासन-व्यवस्था में अभूतपूर्व उन्नति होगी।

अपनी रक्षा के लिए आवश्यक सेना, दरबारी, राजदूत, भृत्यवर्ग तथा बहुमूल्य उपहारों को लेकर सम्राज्ञी माकेडा ने अपने देश से प्रस्थान किया। कहते हैं, उनके दल के साथ केवल उपहारों से लदे हुए सात सौ सत्तानबे ऊँट तथा असंख्य खच्चर एवं गधे थे। इन पशुओं पर उपहार स्वरूप स्वर्ण एवं रजत धागों से बुनी हुई मूल्यवान कालीनें, पद्मराग, नीलम तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के हीरे और मोती, अम्बर, प्रवाल, मुश्क, हाथी-दाँत, गैंडों के सींग, घड़ियालों की खालें तथा अन्य बहुत-सी वस्तुएँ थीं।

महारानी माकेडा अपने दल से सदा एक मील आगे ही रहतीं। उनके साथ पास में ही उनका भक्त और सच्चा सेवक टामरिन भी रहता। भिन्न-भिन्न देशों और राजधानियों में वे ठहरती भी जाती थीं। उन देशों के शासकों, वहाँ की रानियों, मन्त्रियों और चतुर व्यापारियों से वे बातें करतीं। प्रत्येक देश की भिन्न-भिन्न प्रथाओं और पृथक्-पृथक् शासन-प्रणालियों से परिचय प्राप्त करतीं।

इसका परिणाम यह हुआ कि छः महीनों के बाद जोरडान (Jordan) की घाटी पार करते हुए जब जेरुजेलम के निकट पहुँचीं तो वे बहुत चतुर, अनुभवी और प्रत्युत्पन्नमति हो गई थीं। पुरुषों से गम्भीरतापूर्वक उनके काम की बातें कर उन पर सहज ही अपना प्रभाव स्थापित कर लेतीं और स्त्रियों की प्रेम-कथाएँ सुनते हुए वे अपने को इस प्रकार भावुक, तल्लीन एवं हर्षोन्मत्त प्रकट करतीं कि वे शीघ्र ही इनके वश में आ जातीं। पर जब वे अपने सच्चे भक्त और

सेवक टामरिन से बातें करतीं तो उनका केवल एक ही विषय होता, और वह विषय था—सम्राट् सॉलोमन।

दोनों बातें करते जा रहे थे। महारानी की रक्षक सेना सदा की भाँति पीछे थी। महारानी ने कहा—"सॉलोमन से मैं ऐसी सन्धि करूँगी, जो इथिओपिया के लिए अधिक सुविधाजनक होगी। सम्भव है, एक-दो महीने मैं वहाँ ठहरूँ भी, उसके देश का अध्ययन करने के लिए। बाद इसके अबीसीनिया लौट जाऊँगी। इस बार समुद्र-मार्ग से; कारण, जल-मार्ग से स्वदेश पहुँचने में कम समय लगेगा और वहाँ पहुँचते ही शासन-सुधार का कार्य आरम्भ हो जायगा।"

टामरिन ने भी महारानी की बातें स्वीकार करते हुए कहा—"निस्सन्देह दोनों ओर से नियमानुकूल सौजन्य का विनिमय हो जाने के बाद, सम्राज्ञी अपने इच्छानुकूल वहाँ कुछ दिन रह भी सकती हैं……" परन्तु महारानी माकेडा टामरिन की बातें सुनती न थीं। उनका ध्यान किसी दूसरी ओर आकर्षित हो गया था। कोमल स्वर में उन्होंने कहा—"वह देखो टामरिन।"

टामरिन ने देखा, पथ के एक ओर थोड़ी दूर पर एक घिरा हुआ पहाड़ी चरागाह था। उसके नीचे कल-कल रव करता हुआ एक अत्यन्त सुन्दर झरना बह रहा था। उस झरने के दोनों पार्श्व में भूमिपद्मों के घने खेत लहलहा रहे थे और उसके आगे गिरि-नितम्ब में जैतून के वृक्ष फैले हुए थे। समीप ही उनमें एक वृक्ष के नीचे एक गड़ेरिया अपने कपोलों को अपने दोनों हाथों के सहारे रख, ध्यानावस्थित हो,

घास पर इस प्रकार लेटा हुआ था, मानों वह वनस्पति-शास्त्र के किसी निगूढ़ रहस्य का अनुसन्धान कर रहा हो।

सम्राज्ञी ने अपना घोड़ा रोकते हुए कहा—"उसने क्या पा लिया है जो इस प्रकार देख रहा है?"

टामरिन ने भी घोड़ा खड़ा कर दिया, पर अनिच्छा-पूर्वक बोला—"मेरी प्यारी सम्राज्ञी, यह संसार का एक अत्यन्त एकान्त और गोपनीय कोना है। लोग कहते हैं कि इस उपत्यका में चोर छिपे रहते हैं।"

"तुमने क्या कहा! चोर और राजा सॉलोमन की राजधानी के इतने समीप? आखिर इन चोरों के लिए महान् सॉलोमन ने क्या प्रबन्ध किया है? अथवा तुमने पुनः अपनी पुरानी दुष्टता आरम्भ कर दी? मेरी सेना केवल बीस मिनट की ही राह में है और मैं प्यास से मर रही हूँ। टामरिन, जरा इस झरने के मधुर सङ्गीत को सुनो।"

"मेरी महान् और प्यारी सम्राज्ञी, उस घिरे हुए उद्यान में न जाना।"—टामरिन ने विनम्रता-पूर्वक कहा।

"ज़ैतून के वृक्षों वाली इस पहाड़ी उपत्यका को क्या तुम उद्यान कहते हो? क्यों नहीं ये लोग मेरा उद्यान देख लेते? और यदि थोड़ा जल पी लूँ तो उस गड़ेरिए को इससे कोई ईर्ष्या अथवा जलन नहीं हो सकती।"—घोड़े की लगाम टामरिन को देते हुए महारानी उतर गईं और ज़ैतून की शाखा के नीचे अपना सिर झुकाए हुए उस झरने के पास पहुँचीं। सामने झरने के ठीक उस पार गड़ेरिया लेटा हुआ था। टामरिन दौड़ता हुआ महारानी के पास आया।

घुटने टेकते हुए महारानी ने झरने का जल पी लिया। बोलीं—"कितना सुन्दर यह है टामरिन ? क्या भगवान की समस्त सृष्टि में जल से भी अधिक मूल्यवान कोई दीख पड़ने वाली वस्तु है ? थोड़ा तुम भी पी लो।"

टामरिन ने झरने के इस पार से बहुत अभ्यर्थनापूर्वक उस गड़ेरिए से पूछते हुए विनम्र शब्दों में कहा—"क्या पीने की आज्ञा है ?"

"अतिथि के लिए इस जल पर कोई प्रतिबन्ध नहीं।"—अपने हाथों के सहारे बैठ कर मुसकुराते हुए गड़ेरिए ने कहा।

शेबा की सम्राज्ञी ने उस गड़ेरिए को देखा। वह एक अत्यन्त सुन्दर नवयुवक था। आँखें नील पद्म की भाँति, होंठ भरे हुए, दाँत दूध की तरह सफेद। उन्होंने यह भी देखा कि उस गड़ेरिए के सम्मुख टामरिन दुखी और भयभीत हो रहा था। इस पर उन्होंने व्यग्रता से कहा—"यह गड़ेरिया मेरी हत्या नहीं कर सकता टामरिन ! परन्तु, यदि तुम चाहो तो घोड़े पर सवार होकर सैन्य-दल को यहाँ शीघ्रता से ला सकते हो, तब तक मैं यहीं विश्राम करूँगी।"

"आज्ञा होती है !"—टामरिन ने पुनः उस गड़ेरिए से विनम्रता-पूर्वक पूछा। परन्तु वह घासों के अध्ययन में व्यस्त हो गया था, और इस कारण कोई उत्तर न दिया। तब टामरिन ने अपना सिर झुकाते हुए बहुत नीचे झुक कर दो बार उसका अभिवादन किया, और वहाँ से चलता बना। परन्तु न तो वह घोड़े पर ही चढ़ा और न उस पथ

की ही ओर गया जिस ओर से आया था। सम्राज्ञी की आँखें बचाकर वह कुछ दूर पर घिरी हुई दीवार की आड़ में शहतूत के वृक्ष के नीचे बैठ गया और गिरे हुए शहतूतों को आनन्द से खाने लगा।

इधर सम्राज्ञी भी निर्द्वन्द्व होकर वहाँ बैठ गईं। पहले उनका ध्यान जैतून के उन हरे वृक्षों की ओर गया। फिर वे उस झरने के स्वच्छ जल की प्रवाह-लीला देखने लगीं और इसके बाद उनकी दृष्टि उस ध्यानावस्थित नवयुवक गड़ेरिए पर जा टिकी। वह घासों के अध्ययन में व्यस्त था।

सम्राज्ञी के होंठ कौतूहल से फड़क उठे। उनके जीवन में आज की भाँति कोई ऐसा अवसर नहीं आया था, जब किसी ने उस नवयुवक गड़ेरिए की भाँति उनकी ओर असावधानी और उपेक्षा प्रदर्शित की हो। उनकी भृकुटी तन गई और उन्होंने अँगड़ाई ली। इसके बाद एक चमकता हुआ छोटा पत्थर उठा कर झरने में फेंका; परन्तु वह पत्थर उस नवयुवक गड़ेरिए के हाथों पर गिरा। क्रोध से अपना सिर उठा कर झिझकते हुए उसने कहा—"तुमने एक गढ़ बरबाद कर दिया है। तुम्हारा यह कार्य नियन्त्रणहीन है। उन्हें इसका पुनर्निर्माण करने में एक वर्ष लगेगा। हम लोगों का एक मिनट उनके एक वर्ष के बराबर होता है।"

"परन्तु तुम किस वस्तु का निरीक्षण कर रहे हो?"—सम्राज्ञी ने कोमल एवं मधुर शब्दों में कहा।

"आकर स्वयं देख लो।"

"तुम्हारे और मेरे बीच यह निर्झरिणी है और पार करने के निमित्त कोई सोपान-शिला भी नहीं है।"

उसने कुछ भी उत्तर न दिया। सम्राज्ञी ने एक बार उसे देखा और एक बार उस छिछले झरने को। फिर वे बिना कुछ कहे ही पार करने लगीं। सावधानी से वे पार कर रही थीं; परन्तु गड़ेरिए को न देखते हुए भी उन्हें मालूम था कि वह उनका निरीक्षण कर रहा है। उसके समीप घास पर बैठते हुए महारानी माकेडा ने पूछा—"तुम इस प्रकार अनिमेष दृष्टि से मुझे क्यों देख रहे हो?"

"क्योंकि इस देश में लोग कहते हैं"—गड़ेरिए ने उत्तर दिया—"कि अबीसीनिया की स्त्रियों के पैर बकरियों के पैरों की भाँति सुन्दर होते हैं।"

सम्राज्ञी ने अपने चप्पलों को फेंकते हुए और अपने पैर बढ़ाते हुए कहा—"तुम स्वयं देख लो कि उनका कहना कितना उचित और सत्य है।"

"हाँ, अब मैं देख चुका। इसीलिए तो मैंने तुम्हें इस झरने को पार करने के लिए कहा था।"—इतना कह कर गड़ेरिया फिर घासों के अध्ययन में व्यस्त हो गया।

महारानी ने उसे ध्यानपूर्वक देखा। वह अबीसीनिया के गड़ेरिए की भाँति न था। उसके वस्त्र अच्छे ऊन के थे और उसके सिर के लम्बे बाल स्वयं महारानी के सिर के बालों की भाँति कोमल थे। महारानी की इस परीक्षा-दृष्टि से वितृष्ण एवं निरपेक्ष होकर उसने

कहा—"देखो, वे अपना गढ़ पुन: बना रही हैं!" सचमुच ही चींटियाँ बहुत जोरों से इधर-उधर व्यस्त थीं—इतनी व्यस्त थीं जिसका अनुमान करना महारानी के लिए सम्भव न था।

"तुम इन चींटियों का क्यों निरीक्षण करते हो?"—महारानी ने उत्सुकतापूर्वक सहानुभूति-सूचक और कोमल स्वर में पूछा।

"मैं इनकी गतिविधि का अध्ययन करता हूँ। कारण, ये बहुत बुद्धिमान हैं। एक बार ये चींटियाँ सालोमन के यहाँ उसके एक हाथी के विरुद्ध अभियोग लेकर गईं। उसने इन चींटियों पर हँसते हुए कहा, तुम लोग उससे बदला ले सकती हो। परिणाम यह हुआ कि असंख्य चींटियों ने मिलकर एक बहुत बड़ा गड्ढा तैयार किया, जो ठीक उस हाथी के पथ पर पड़ता था। मकड़ियों से प्रार्थना कर उन्होंने उस पर एक जाली बुनवा दी, जिसे शिशिर ने अपने गिरे हुए पत्तों से ढँक दिया। अन्त में हाथी जब उस गड्ढे में गिरा तो थोड़ी देर में वे उसको इस प्रकार खा गईं कि उसकी हड्डियों के अतिरिक्त कुछ भी शेष न रहा। इस प्रकार सॉलोमन ने अपने उस हाथी से हाथ धो लिया, पर साथ ही उसने चींटियों पर हँसना भी छोड़ दिया।"

"परन्तु तुम इतने गौर से उन्हें क्यों देख रहे हो?"—सम्राज्ञी ने कौतूहल से पूछा।

"इसलिए कि जब सॉलोमन भगवान के लिए मन्दिर बनाता है तो वह देवताओं की दृष्टि में उसी भाँति छोटा और नगण्य दीख पड़ता

है जितना अपने गृहों का निर्माण करने वाली ये चींटियाँ उसे दीख पड़ती हैं।"

"क्या तुम किसान हो?"—उत्सुकता से सम्राज्ञी ने पूछा।

"यह गिरि-नितम्ब और चींटियों की ये पहाड़ियाँ मेरी हैं, और मृत्यु के बाद जब यहाँ मेरी समाधि बनेगी, मैं इन चींटियों का हो जाऊँगा।"—मुस्कुराते हुए गड़ेरिए ने कहा।

"तुमने कैसे जाना कि मैं इथिओपिया से आ रही हूँ?"

"अनुमान करो तो सही, मैंने कैसे जाना?"—हँसते हुए गड़ेरिए ने कहा।

दोनों ने निर्निमेष दृष्टि से दोनों को देखा। सम्राज्ञी को मालूम हुआ जैसे इतना सुन्दर पुरुष उन्होंने जीवन में कभी न देखा हो। उस युवक गड़ेरिए के अद्भुत रूप तथा उसके कोमल स्वर ने उनके हृदय में एक विचित्र हलचल पैदा कर दी; परन्तु अपने भावों को छिपाते हुए उन्होंने उत्तर दिया—"वायु के द्वारा?"

"तुम्हारा अनुमान सुन्दर है।"—हँसते हुए गड़ेरिए ने कहा।

"इसमें अनुमान की कौन-सी बात है? मैंने तो सुना है, सम्राट् सॉलोमन पक्षियों की भी भाषा समझता है!"—गम्भीरतापूर्वक सम्राज्ञी ने कहा।

"और मैंने सुना है कि दक्षिण की सम्राज्ञी कठिन प्रश्नों से सम्राट् सॉलोमन की परीक्षा लेने आ रही है!"

"क्या तुम सॉलोमन हो?"

"क्या यही कठिन प्रश्न है ?"

"तुम सॉलोमन हो !"

"मैं सॉलोमन हूँ ।"—वह मुस्कुरा रहा था ।

शेबा की सम्राज्ञी कुछ देर के लिए स्पन्दनहीन हो गईं । सॉलोमन की मुस्कुराहट, उसकी सादगी, उसका यह गड़ेरिए का वेश एवं उसका यह विचित्र मिलन उन्हें उद्विग्न करने लगा । भ्रान्त होकर उन्होंने पूछा—"फिर गड़ेरिए का यह कपट-वेश क्यों ?"

"क्या यह दूसरा कठिन प्रश्न है ?'—सॉलोमन ने हँसते हुए कहा······"परन्तु राज्य प्राप्त करने के पहले मेरे पिता डेविड (David) बाल्यावस्था में भेड़ें चराया करते थे और यहीं—इसी गिरि-नितम्ब में, इसी झरने के किनारे, वे भगवान के गीत बनाया करते थे ।"

"तुम्हारे भगवान कौन हैं ? हम अबीसीनिया-वासी तो सूर्यदेव को भगवान मानते हैं ।"

"यदि तुम इस प्रश्न का उत्तर न जानती होतीं तो मुझसे पूछा न होता ?"

"हाँ, मैं भगवान सूर्य और उनके वैभव को देखती हूँ; पर मैं उस भगवान के वैभव नहीं देख पाती, जिन्होंने भगवान सूर्य को बनाया है । फिर जिसे मैं देखती ही नहीं, उसमें कैसे विश्वास करूँ ?"

"परन्तु तुम सॉलोमन से मिलने क्यों आईं ?"

"क्योंकि टामरिन ने और समस्त संसार ने कहा कि सॉलोमन का वैभव……"

"परन्तु मेरा वैभव कहाँ है? मेरा वस्त्र गड़ेरियों का है। मेरे चप्पल मैले और धूलि-धूसरित हैं। फिर भी तुम विश्वास करती हो कि मैं सॉलोमन हूँ! ठीक इसी प्रकार मैं भी भगवान में विश्वास करता हूँ।"

सम्राज्ञी की आँखें नीची हो गईं। लज्जा से उनके कपोल अरुण हो गए। आधे सङ्कोच और आधी लज्जा से उन्होंने कहा—"मैं यहाँ तुम्हारे वैभव देखने नहीं आई! मैं तुम्हारे लिए बहुत-से बहुमूल्य उपहार लाई हूँ। मैं निर्धन नहीं हूँ सम्राट् सॉलोमन! परन्तु मैंने सुना कि तुम हृदय की बातें जान जाते हो। निश्चय ही तुम्हें जानना चाहिए कि अपने हृदय की बात मैं टामरिन से भी नहीं कह सकती; परन्तु तुम मेरे भाई सम्राट् हो और मैं तुम्हारी बहन सम्राज्ञी हूँ। मैंने सोचा था कि तुमसे एक बार मिल लेने और बातें कर लेने पर मेरे जीवन का एकान्त इतना दारुण नहीं होगा।"—सम्राज्ञी का स्वर काँप रहा था।

"परन्तु पहले मेरा वैभव देख लो…देखो, मेरे मन्त्री, दरबारी, सेनाध्यक्ष उचित राजकीय सम्मान से शेबा की सम्राज्ञी का स्वागत करने आ रहे हैं। आज तुम्हारा राजकीय स्वागत होगा। मैं भी तुम्हें उपहार भेजूँगा और कल इसी समय सम्राट् सॉलोमन और शेबा की सम्राज्ञी की पहली मुलाकात होगी। मैं अपने राजसिंहासन पर

तुम्हें अपने साथ बराबर का आसन दूँगा और उस समय तुम्हें जो कुछ प्रश्न करने का साहस होगा, मैं सबका उत्तर दूँगा। उस समय तक के लिए···प्यारी सम्राज्ञी···विदा हो रहा हूँ। मेरा मन अभी इस उपत्यका से भरा नहीं है।"—यह कहकर सॉलोमन पहाड़ियों की दिशा में जाने लगा।

सम्राज्ञी उसे देखती रह गईं। उनकी आँखें भर गईं और उनका हृदय व्यग्र हो उठा। वे सोचती थीं, सॉलोमन के बिना ये चौबीस घंटे किस व्यग्रता से कटेंगे!

दूसरे दिन सम्राट् सॉलोमन शेबा की माहारानी से मिले। उनके साथ बराबर का व्यवहार किया। सम्राज्ञी ठीक वैसे ही महल में ठहराई गईं जैसे महल में सम्राट् रहते थे। उनकी हर प्रकार से सम्राट् की ही भाँति प्रतिष्ठा की गई।

छः महीनों तक सम्राज्ञी सॉलोमन की राजधानी में रहीं। दोनों नित्य एक दूसरे के पास आते, घंटों बातें होतीं। इस प्रकार शेबा की महारानी की शिक्षा होने लगी। धर्म, विज्ञान, कला, राजनीति, अध्यात्मवाद आदि सभी विषयों पर नित्य बातें होतीं; पर एक विषय के सम्बन्ध में दोनों ही मौन थे और वह था प्रेम। छः महीनों तक दोनों ने इस शब्द का एक बार भी नाम नहीं लिया था। फिर भी सॉलोमन की पत्नियों के सहस्रों महल नित्यप्रति द्वेष और प्रीति-शङ्का से काँप रहे थे।

छः महीने समाप्त हो गए। सम्राज्ञी ने प्रसङ्गवश कहा—"जब मैं

चली जाऊँगी तो तुम्हारी पत्नियाँ बहुत प्रसन्न होंगी! उनके लिए मेरे हृदय में व्यथा और सहानुभूति है। मैं उन हजार में एक होना नहीं चाहती।"

"तुम भूल करती हो। ये बन्धक-स्वरूप मेरे पास हैं। मैं इन्हें आश्रय देता हूँ। इसके बदले इनके पिता और भाई कोई उपद्रव नहीं उपस्थित करते, अन्यथा इनमें बहुतों को मैं पहचानता भी नहीं। इनमें एक भी ऐसी नहीं, जो मेरे प्रेम और हृदय की अधिकारिणी हो!"

"फिर भी मेरे जाने से इन्हें प्रसन्नता होगी।"

"तो क्या तुम अपने देश जाने की तैयारी कर रही हो?

"अब यहाँ रहने से क्या लाभ? जो कुछ तुम किसी स्त्री को सिखला सकते थे, मैंने सीख लिया।"

"क्या तुम सच कहती हो?"

"कम से कम जहाँ तक एक स्त्री अपनी बुद्धि से सीख सकती थी, मैंने सीख लिया। अब मैं तुम्हारे इस ज्ञान का सुदूर दक्षिण में प्रचार करूँगी और···और···तुम···माकेडा को भूल जाओगे।"

"मुझे दुःख है, तुमने अभी मेरे दरबार का वार्षिक उत्सव नहीं देखा। उस दिन न्याय प्रदान करने के बाद एक वृहत् उत्सव होता है। वह तुम्हारा अन्तिम पाठ होगा।"

"सम्राट् सॉलोमन! तुम्हारा यह वैभव अब मुझे सता रहा है। इससे मैं भयभीत हो गई हूँ। मैं तो चाहती हूँ, तुम्हारे उसी उद्यान में

भाग जाऊँ, जहाँ वह निर्भरिणी बह रही···।"—सम्राज्ञी आगे न बोल सकीं। उनका कंठ भर आया था।

अन्त में सॉलोमन ने उन्हें उत्सव देखने के लिए तैयार कर ही लिया। दूसरे दिन विराट दरबार लगा। राज्य के सभी प्रधान कर्मचारी उपस्थित थे। सम्राट् सॉलोमन अपने न्याय-सिंहासन पर थे। महारानी माकेडा सम्राट् के अन्तःपुर से यह अद्भुत दृश्य देख रही थीं। सम्राट् का अन्तःपुर ऐसा बनाया गया था कि वे वहाँ से बैठे हुए सब कुछ देख और सुन सकती थीं, पर कोई भी उन्हें न देख सकता था। दरबार के दृश्य ने उन्हें स्तम्भित कर दिया। सम्राट् सॉलोमन अपना अद्भुत न्याय कर रहे थे। अभियोगियों के अभियोग और अभियुक्तों के रोदन से निस्पृह, हास्य और रोदन से निर्विकार, हृदय में अत्यन्त दया रखते हुए भी, कर्त्तव्य की निष्ठा में मानवीय क्रोध और दया से बहुत ऊँचे उठ कर अपना निर्णय दे रहे थे।

सम्राज्ञी माकेडा ने इस अद्भुत दृश्य को देखा। वे इसमें इतनी लीन हो गई थीं कि जब उनके सामने सॉलोमन का राजसी भोजन आया तो उन्होंने छुआ भी नहीं। उनकी कल्पना-धारा न जाने अपने संसार में कौन-सा चित्र चित्रित करने लगी। वे समय को भूल गईं, अपनेको भूल गईं। समस्त दिन और आधी रात तक दरबार होता रहा, पर उन्हें समय का ज्ञान न रहा। दरबार समाप्त करके जब सॉलोमन ने हँसते हुए अन्तःपुर में प्रवेश किया तो बड़े कोमल स्वर

में सम्राज्ञी ने कहा—"सारे दिन के इस कठिन परिश्रम से तुम बहुत थक गए होगे ?"

"उतना नहीं, जितनी तुम थकी हुई दीख पड़ती हो।"—अपना राजकीय वस्त्र उतारते हुए सॉलोमन ने कहा—"तुम अपने ये राजकीय वस्त्र क्यों नहीं उतार लेतीं ?" वे हँस रहे थे।

सम्राज्ञी माकेडा को जान पड़ा मानों ऊषा खिल उठी। शीघ्र ही उठते हुए उन्होंने कहा—"मैं अब विश्राम करने जा रही हूँ। मालूम होता है, रात बहुत बीत गई है, बाहर निस्तब्धता छा रही है।"

"आधी से भी अधिक रात बीत चुकी है, समस्त संसार विश्राम कर रहा है।"—सम्राट् की हँसी में एक विचित्र जादू, एक विचित्र आकर्षण था। महारानी माकेडा का समस्त शरीर उनके अन्तर्जगत् की भाँति सिहर उठा !

"मेरे दास और भृत्यवर्ग कहाँ हैं ?"

"मैंने उन्हें विश्राम करने के लिए भेज दिया।"

"यह क्या ?"

सम्राट् सॉलोमन ने सम्राज्ञी माकेडा को अपने बाहु-पाश में बाँध कर कहा—'अन्तिम पाठ।'

सम्राज्ञी ने अपना सिर हिलाते हुए कहा—"सम्राट् सॉलोमन, अब इस पाठ के लिए मुझमें शक्ति और उत्साह नहीं है। मेरे प्राण अब अपने उस देश के लिए उत्सुक हो रहे हैं जहाँ पुरुष अपनी स्त्रियों को कभी-कभी निर्दयतापूर्वक पीटते हैं, पर इतना अधिक नहीं

सताते जितना तुमने मुझे अपनी जिह्वा से, अपनी आँखों से और अपने इस अतुल वैभव से सताया है !"

सम्राज्ञी को अपने बाहुपाश में दबाए हुए सम्राट् सॉलोमन ने पुनः बड़े कोमल शब्दों में कहा—"आज यहीं रहो और विश्राम करो।"

सम्राज्ञी ने अपने शरीर का समस्त भार सम्राट् सॉलोमन के कन्धों पर दे दिया, परन्तु साथ ही अपने शब्दों से अपनी इस चेष्टा का विरोध करने लगीं—"सम्राट् सॉलोमन, यदि तुम मेरी एक बात मान लो तो फिर मैं तुमसे कुछ भी न माँगूँगी।"

"बोलो, क्या कहती हो ?"

"यही कि मेरे प्रति तुम्हारी बातें, तुम्हारी हसी एवं तुम्हारी चेष्टाएँ पहले की ही भाँति रहें और तुम···आज रात को······मेरे साथ अपने व्यवहारों में परिवर्त्तन न आने दो !"

"बहुत अच्छा"—सॉलोमन ने कहा—"परन्तु शर्त्त यह रही कि तुम यदि मुझसे पुनः कोई वस्तु न माँगोगी तो मैं, जैसा तुम कहती हो, वैसा ही करूँगा; परन्तु तुम्हें यहीं रहकर मुझसे बातें करनी होंगी।"

"उस दशा में मैं यहीं ठहरूँगी और तुमसे बातें करूँगी।"—मुस्कुराती हुई सम्राज्ञी ने कहा। उनकी इस मुस्कान में प्रथम बार सम्राट् सॉलोमन के लिए घृणा व्यक्त थी !

सम्राट् पलंग पर लेटे हुए महारानी माकेडा की रूप-राशि मुग्ध दृष्टि से देख रहे थे।

कुछ देर बाद महारानी ने व्यग्रता से कहा—"यहाँ बहुत गर्म है।"

"महारानी माकेडा, तुम्हारे विरुद्ध मेरा एक अभियोग है। तुम अपने हृदय की सारी बातें मुझसे कहनेवाली थीं?"

"मैंने अपने सभी प्रश्न तुमसे पूछ लिये हैं।"

"और मैंने उनका उत्तर भी दे दिया है। मैंने तुम्हें राज्यशासन, सैनिक प्रबन्ध, ईश्वर-पूजन, प्रजा की उन्नति तथा अन्य सभी आवश्यक बातों को बतलाया है; परन्तु सम्राज्ञी माकेडा, जो बात तुम्हारे हृदय में है, उसकी चर्चा हम लोगों ने एक बार भी न की; फिर भी मेरी सहस्र रानियाँ केवल यही सोचती हैं कि हम दोनों ने केवल उसी विषय के सम्बन्ध में आज तक चर्चा की है।"

"वह कौन विषय है?"—महारानी ने क्रोध से पूछा।

"प्रणय"—हँसते हुए सम्राट् सॉलोमन ने कहा।

"मैं प्रेम के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानती"—सम्राज्ञी ने रुखाई से कहा—"जब मैं अपने देश को लौटूँगी, एक पति को वरण करूँगी और अपने देश को एक उत्तराधिकारिणी दूँगी; पर क्या तुम समझते हो, मैं उसे प्यार कर सकूँगी? विशेषकर जब कि मैंने तुम्हारे इस देश को, तुम्हारे इस दरबार को और तुम्हारे इस वैभव को देख लिया है? क्या तुम यह नहीं जानते कि अब मेरे हृदय में प्रेम से वितृष्णा और अरुचि हो गई है?"

इसी समय सम्राट् सॉलोमन के मजबूत हाथ उनकी कलाइयों पर

बैठ गए। पर वे क्रोध और आवेश में कहती जा रही थीं—"मैं अब आसक्ति-वेदना और विरह-दुःख से अपनेको बचाऊँगी, मैं प्रणय-जनित पीड़ा से अपनी रक्षा करूँगी !!"

उन्होंने अपनी शिथिल वेणी और खुले हुए बालों को सँभालते हुए कहा—"बहुत गर्म है, मैं प्यासी हूँ, मुझे एक प्याला जल दो।"

उनकी आँखें पलंग के सिरहाने जल से भरे हुए रजत-पात्र पर गड़ गई थीं।

"नहीं !" सम्राट् सॉलोमन ने कहा।

सम्राज्ञी ने सम्राट् को निर्निमेष नेत्रों से देखा और फिर आज्ञा-सूचक शब्दों में कहा—"मुझे एक प्याला जल दो।"

"तुमने कहा था कि अब मैं तुमसे कोई वस्तु नहीं माँगूँगी; क्या इसी भाँति तुम अपने वचन निभाती हो ?"—कृत्रिम क्रोध से सम्राट् सॉलोमन ने कहा।

"क्या तुमसे थोड़ा-सा जल माँग लेने में मेरी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है ? मैंने तो समझा था, तुम्हारा आशय किसी बहुमूल्य वस्तु से है।"—लड़खड़ाती हुई जबान से सम्राज्ञी माकेडा ने कहा।

भरे हुए प्याले को रोककर सम्राट् सॉलोमन ने कहा—"जब हम लोग उस झरने के किनारे बैठे थे, तुमने अपने भृत्य से पूछा था—क्या भगवान की समस्त सृष्टि में जल से भी अधिक मूल्यवान कोई वस्तु है ?—क्या तुम्हें वह बात स्मरण है ?"

"मुझे वह झरना और वह गड़ेरिया, दोनों ही स्मरण हैं।" —उनकी वाणी में कम्पन था!

"पर क्या तुम्हें अपना प्रश्न स्मरण है?"

"हाँ, मुझे स्मरण है; प्यास से मेरे प्राण सूख रहे हैं, कृपाकर मुझे जल दो!"

"यदि टामरिन के बदले तुमने मुझसे वह प्रश्न किया होता तो मैंने उसी समय तुम्हें बता दिया होता कि संसार में जल से भी अधिक महँगी एक वस्तु भगवान ने बनाई और वह वस्तु प्रेम है।"—सम्राट् ने जल से भरा प्याला सम्राज्ञी को देते हुए कहा—"सम्राज्ञी माकेडा, लो यह जल लो, पर तुम अपनी प्रतिज्ञा हटा लो; अब मैं भी तुमसे एक वरदान माँगना चाहता हूँ।"

"माँग लो"—शेबा की महारानी ने काँपते हुए स्वर में कहा!!

× × × ×

सम्राज्ञी माकेडा जब अपने देश को वापस लौटीं तो उनके समस्त प्रश्न हल हो गए थे और उनका व्यथित एवं उद्विग्न हृदय शान्त और सन्तुष्ट हो गया था। पर उनके प्रस्थान करते ही सम्राट् सॉलोमन को यह चेतना हुई कि उनकी आधी बुद्धि और समस्त हृदय महारानी माकेडा अपने साथ लेती गई हैं! पागलों की भाँति उन्होंने सम्राज्ञी का पीछा किया और दोनों ही समुद्र-तट पर मिले। वहाँ दोनों में एक नवीन सन्धि हुई। उस सन्धि के अनुसार दोनों में यह बात तै रही कि प्रतिवर्ष दोनों ही अपने राज्यों के बीच की दूरी पर एक बार

मिलेंगे। महारानी सम्राट् से मिलने आधी दूर चलकर आएँगी। और सम्राट् महारानी से मिलने आधी दूर चलकर आएँगे।

उचित समय में सम्राज्ञी माकेडा के एक पुत्र-रत्न पैदा हुआ जिसका नाम मेनिलेक (Menyelek) रक्खा गया। वह ठीक सम्राट् की प्रतिमूर्ति था—रूप, गुण, बुद्धि, साहस और वीरता;—सभी बातों में। अबीसीनिया का वर्त्तमान राज्य-परिवार उसी की वंशावली है।

अपने यौवन-पुष्प के मुर्झाने के पहले ही महारानी माकेडा मर गईं।

सम्राट् सालोमन ने समुद्र-तट पर उसी जगह उनकी समाधि बनाई, जहाँ वे दोनों प्रतिवर्ष मिला करते थे!

सम्राज्ञी माकेडा की मृत्यु के बाद प्रथम बार लोगों ने कहा—सम्राट् सालोमन का यौवन ढलने लगा है!!!

मरण का त्योहार, हे सखि !

कविता और प्रेम—ये दो ऐसी समस्याएँ हैं, जिनसे मुझे स्वाभाविक अरुचि है ! कविता को मैं अरण्य-रोदन समझता हूँ। प्रणय, मेरी दृष्टि में दुर्बल मस्तिष्क का एक संक्रामक रोग है—वह रोग, जिसमें यदि भूल से भी एक बार पैर पड़ जाय, तो दलदल की भाँति समस्त जीवन को निगलकर ही छोड़ेगा !

परन्तु मनुष्य-जीवन भी भगवान् के व्यंग्यात्मक कौतुक का अद्भुत लीला-निकेत है ! जिस वस्तु से उसकी अरुचि हो, उसे उसीसे होकर अथवा उसके साथ ही जाना पड़ता है। भगवान् की दया है, मैं कवि न हुआ। रसायन-शास्त्र के तत्त्वान्वेषण में 'टेस्ट ट्यूब' और गैस का हिसाब-किताब कुछ ऐसा टेढा होता है कि चाहते हुए भी मस्तिष्क में कविता-देवी का आवाहन नहीं किया जा सकता। जलते हुए 'बुनसेन बर्नर' की नीली लौ में समस्त कविता एवं उसके रहे-सहे कीटाणु आप ही-आप नष्ट हो जाते हैं !

और प्रेम ? सौभाग्य से प्रेम का रोग मैंने कभी जाना ही नहीं। रसायन-शास्त्र से एकाकार हुआ मेरा जड़ जीवन प्रिया-स्मृति की विषम ज्वाला से सदा शून्य और सुरक्षित रहा है। न तो मैंने कभी प्रेम का अमृत ही चखा और न मुझे विरह की नागिन ही डँस सकी। प्रेम और विरह, इन दोनों से मैं वैसा ही विरक्त हूँ, जैसा होमियोपैथिक डाक्टर सुगन्ध और दुर्गन्ध से !

फिर भी मेरे एक मित्र और साथी के जीवन में कुछ ऐसी घटना घटी, जिससे सहसा आँख मूँद लेना मेरे-जैसे अन्वेषक मस्तिष्क को अच्छा नहीं जँचता। प्रेम के संसार से दूर रहते हुए भी अब मैं उसकी "फिलासफी' पर सोचा करता हूँ। सोचते-सोचते मेरी दशा कुछ ऐसी हो गई है कि पिछले कुछ महीनों से कविता के प्रति मेरी तीव्रता भी अब जाती रही। और, यदि मेरे मित्र के जीवन में वह घटना न घटी होती, तो कदाचित् इस कहानी की आवश्यकता भी न होती !

उन दिनों हम दोनों पटना-कालेज के आई० एस-सी० में पढ़ते थे। दूसरा वर्ष था। सन् १६२२ का जमाना। होस्टल में हम दोनों के कमरे एक दूसरे के बगल में थे। उसका नाम बनवारी था।

प्रथम वर्ष तो हम लोग एक-दूसरे से प्रायः नहीं मिले; पर दूसरे वर्ष घनिष्ठता की कोई सीमा न थी। प्रैक्टिकल क्लास के बाद सन्ध्या समय एक दिन वह मेरे कमरे में आया और मेरे पास ही बैठ गया। उस समय होस्टल में उसके और मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई भी विद्यार्थी

न था। सभी फुटबाल का मैच देखने चले गए थे। कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कालेज और हमारे कालेज में मैच था।

"तुम मैच देखने नहीं गए दिवाकर ?" बैठते हुए उसने पूछा।

"अजी मुझे मैच-वैच से शौक नहीं।"

"लेकिन फुटबाल तो इतना सुन्दर खेलते हो···"

"वह तो भाई, 'फाइन' के भय से खेलना पड़ता है, दिल तो मेरा उससे कोसों दूर है।"

थोड़ी देर के बाद वह चला तो गया; पर अब नित्य ही मेरे पास आता और मुझसे बातें करता। एक सप्ताह के बाद हम लोग एक दिन सन्ध्या समय अचानक लान में मिले। मुझे देखते ही वह इस प्रकार प्रसन्न हो उठा, मानों कोई भूली हुई वस्तु मिल गई हो। बोला—"मैं तुम्हारी ही तलाश में था !"

"क्यों ?"

"प्रैक्टिकल क्लास में आज तुम नहीं आए थे, तो मेरा भी मन न लगा। मैं सिरदर्द का बहाना कर होस्टल में चला आया। वहाँ आने पर देखा, तुम नहीं थे। नौकर से पता चला, तुम किसी मित्र के साथ इधर ही आए हो। मैं आ ही रहा था कि अचानक तुमसे मुलाकात हो गई।"

मैं हँसने लगा। बोला—"और यदि मैं न मिलता ?"

"तो मेरी खोज इसी प्रकार चलती रहती।"

"और मैं यदि कहीं दूर चला गया होता—कहीं दूर, दूसरे प्रान्त में, दूसरे नगर में ?"

"तो मैं तुमसे मिलने वहीं चला जाता।"

"बड़े अजीब आदमी हो।"

"अजीब तो हूँ ही—आदमी हूँ या नहीं, यह आज तक नहीं जानता था ; पर जब आज तुमने मुझे आदमी कह दिया तो मैं निहाल हो गया। अब से मैं अपने को आदमी ही समझा करूँगा।"

"बड़े मसखरे हो।"—हँसते हुए मैंने कहा।

"तुम जो भी बना दोगे, वही बन जाऊँगा ?"—मुसकराते हुए उसने उत्तर दिया।

थोड़ी देर के बाद हम लोग होस्टल में चले आए। प्रतिदिन हम अधिक निकट होते गए। इस प्रकार एक महीना समाप्त हुआ था कि एक दिन रविवार को उसने 'बोटिङ्ग' का निमन्त्रण दिया। मैं उसके निमन्त्रण को अस्वीकार न कर सका।

चाँदनी रात और गङ्गा की छाती! एक छोटी नौका, जिसमें बनवारी के साथ मैं एक तरफ बैठा था और दूसरी ओर माँझी डाँड़ चला रहा था। नौका ज्योंही बीच धारा में पहुँची, बनवारी मेरे अधिक निकट बैठ गया। मेरा हाथ अपने हाथों में लेते हुए बोला—"बन्धु, तुमने अपनी कृपाओं से मुझे...।" भावावेश से वह आगे कुछ न कह सका। उसका आशय न समझते हुए मैं उसकी ओर प्रश्नसूचक

दृष्टि से देखने लगा। थोड़ी देर के बाद वह पुनः बोला—"मुझे तुम्हारे स्नेह के इस वरदान की आशा न थी।"

"कौन-सा वरदान? जरा सीधी-सादी भाषा में बोलो, मैं तुम्हारी तरह साहित्यिक नहीं हूँ।"

"तुम तो मुझसे सभी बातों में अच्छे हो दिवाकर। तुम जानते हो, मैं किसी भी विद्यार्थी से आवश्यकता से अधिक बातें नहीं करता; पर तुमसे मिलने के लिए, तुम्हारा स्नेह पाने के लिए, मैं कब से लालायित हूँ! फर्स्ट इयर के प्रारम्भ से ही न जाने कितनी बार तुमसे मिलना चाहा, तुमसे दिल खोलकर बातें करनी चाही···।"

"फिर क्यों न मिले?"

"मुझे तुमसे बहुत भय लगता था, तुम इतने गम्भीर जो रहते। मुझे भय लगता था, तुम जाने मुझे क्या समझो। फिर भी एक बार दिल न मानने पर मैं तुमसे मिलने गया भी, तो तुम्हारे कमरे का दरवाजा बन्द था; तुम पढ़ रहे थे।"

"फिर मुझे पुकार क्यों न लिया?"

"कैसे पुकारता? सङ्कोच से मैं मरा जा रहा था। यदि तुम पूछते—'क्यों आए?' उस समय मैं क्या उत्तर देता?"

"कहते—तुमसे मिलने आया?" इतने में नौका किनारे लग गई। हम लोग उतर गए। जहाँ हम लोग उतरे, वह मीलों तक फैला हुआ एक छोटा-सा टापू था। उसके दोनों ओर गङ्गा की धारा बहती थी।

कुछ दूर तक चलकर हम लोग बैठ गए। वसन्त के दिन और गङ्गा के बीच एक छोटा टापू। हवा अन्दर जाकर मानो अमृत की धारा बहा देती। बनवारी बड़ी गम्भीरता से मेरी ओर देख रहा था। मौन भङ्ग करते हुए मैंने कहा—"बनवारी, फर्स्ट इयर में मैं भी तुमसे उसी भाँति मिलना चाहता था, जिस प्रकार तुम······।"

"फिर तुमने ही क्यों न······।"

"उस समय तुम क्या कहते ?" बात काटते हुए मैंने कहा।

"मैं कहता, मेरा भाग्य खुल गया, तुम-सरीखा बन्धु और सखा प्राप्त कर मैं धन्य हो गया।"

हँसते हुए मैंने कहा—"परन्तु मैंने सोचा, मिलने में इतना उतावलापन क्यों। यदि तुमसे सच्चा स्नेह है, तो तुम अवश्य ही एक दिन मिल जाओगे। आज तुम मिल ही गए—आज तुम मेरे निकटतम बन्धु हो।"

मेरी बात सुनते ही उसका सुन्दर मुखमंडल कमल की भाँति खिल उठा। फिर आकाश की ओर आँखें स्थिर कर उसने धीरे-धीरे बड़ी गम्भीरता से कहा—"क्या यह सच है दिवाकर कि जिससे तुम स्नेह करो, वह तुम्हें मिल जायगा ?"

"यदि तुम्हारा स्नेह सच्चा और निःस्वार्थ हो।"

"और यदि उसमें व्यग्रता और ज्वाला हो ?"

"यदि उसकी सीमा विवेक और मर्यादा से बँधी हो।"

"और यदि वह स्नेह अन्तर-बाहर, सर्वत्र ही, मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को जड़ से हिला देता हो—आन्दोलित कर देता हो ?"

"मैं तुम्हारी काव्य-भाषा समझ नहीं सका। मालूम होता है, तुम कविता के चक्कर में पड़ गए हो।" हँसते हुए मैंने कहा।

"तुम्हारा कहना बहुत अंशों में ठीक है दिवाकर।" एक दीर्घ निश्वास लेते हुए उसने कहा। कुछ देर ठहर कर फिर बोला—"मनुष्य-जीवन तो एक काव्य ही है बन्धु···।"

"मनुष्य-जीवन व्यर्थ के इन झगड़ों से दूर फीजिक्स (Physics), केमिस्ट्री (Chemistry), बायोलोजी (Biology) और न जाने और भी कितनी चीजें हैं।" बात काटते हुए मैंने कहा।

"मनुष्य-जीवन सभी ज्ञान और विज्ञान से ऊपर एक अमर काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें मिलन और विरह—संयोग और वियोग, ये ही दो प्रधान रस हैं।" उसकी वाणी में करुणा और विषाद था!

[२]

दो वर्ष बाद—

हम दोनों ही फोर्थ-इयर में पढ़ते थे ; पर एक क्लास में नहीं। उसने थर्ड-इयर से 'आर्ट्स' ले रखा था और मैं सदा की भाँति 'सायन्स' विभाग में ही था। फिर भी हम एक साथ ही रहते। हम दोनों एक-दूसरे के लिए अपने सहोदर से भी अधिक प्रिय हो गए थे।

उन दिनों पटना में एक वृहत् कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। समस्त भारत के प्रसिद्ध हिन्दी-कवि आमन्त्रित किए गए थे।

कुछ कवियों के कविता-पाठ के बाद बनवारी की भी बारी आई। कविता-पाठ करने के पहले बनवारी ने एक छोटा-सा भाषण किया।

उसने कहा—"सज्जनो, कविता मेरे लिए जीवन की पवित्रतम उपासना है। कविता को मैं अपने जीवन की निगूढ़तम साधना मानता हूँ—वह साधना, जिसे मैं नित्य अपने अश्रुजल से प्रक्षालित करता हूँ। इस प्रकार मेरी कविता केवल मेरे और मेरे भगवान् के बीच की वह पवित्र वस्तु है, जिसका विज्ञापन अथवा किसी प्रकार का प्रकाशन मेरी साधना को दुर्बल और मेरी उपासना को तेजहीन बना देगा। फिर भी आप महानुभाव जो बिहार की इस उजड़ी भूमि में कृपाकर आए हैं, आपने जो अपने प्रान्तों से प्राचीन मगध के भग्न खँड़हरों में आने का कष्ट उठाया है; उनके स्वागत में मेरे पास मेरी इस साधना के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी महँगी वस्तु नहीं है, जिसे मैं सादर समर्पित कर सकूँ!"

तत्पश्चात् वह अपने स्वाभाविक सुरीले स्वर और गायन-कला से गाने लगा—

यदि तुम आ जातीं मेरे जीवन के शून्य-गगन में ;
क्षितिज काँप उठता सिहरन से अम्बर की क्षण-क्षण में ;
तुम तो कामरूप की बाला !
यदि तुम आ जातीं मेरी स्मृति-विस्मृति की उलझन में ;
दिनकर रजनी में छिप जाता, ऊषा सान्ध्य-गगन में ;
तुम तो ऊषा-सी मधुबाला !
यदि तुम आतीं मेरे मानस में, मेरे मधु-मन में ;
सागर कालिन्दी से मिलता, साँवलिया मधुवन में ;
तुम तो आज बनीं व्रजबाला !

उपस्थित जनमंडली की करतल-ध्वनि से मानों समस्त हाल काँप उठा ! सारा वातावरण एक अद्भुत जादू से भर गया । सभी बनवारी पर मुग्ध थे। यह कहना कठिन था कि इसका श्रेय उसकी कविता को था अथवा उसके सङ्गीत को । पर एक बात निश्चित थी । वह यह कि उस दिन उस कवि-सम्मेलन में केवल उसकी ही तूती बोल रही थी । लोगों के आग्रह से उसने कई कविताएँ पढ़ीं—सभी एक से एक—अनूठी, सुन्दर, भावपूर्ण । मुझ जैसे नीरस आदमी को भी उस समय मालूम हुआ, जैसे कविता भी एक कला है । उस वातावरण में मैंने अनुभव किया, मानों कविता जीवन है, सरसता है, सौन्दर्य है, प्राण-सङ्गीत है और आत्म-तत्त्व के विकास की परम साधना है । मेरी यह भावना कई दिनों तक बनी रही, ऐसा मुझे स्मरण है ।

उस दिन आधी रात को हम दोनों जगे हुए थे । वह मेरे कमरे में मेरे सामने कुर्सी पर बैठा था । मौन भङ्ग करते हुए मैंने कहा—

"बनवारी, आज तक मुझे मालूम न था कि तुम इतने महान् कलाकार हो ।"

वह हँसने लगा । बोला—"बन्धु, यह तो तुम्हारा स्नेह मुझे इस रूप में देखता है, अन्यथा कला से मेरा क्या सम्बन्ध ? मैं तो केवल तुम्हारा बनवारी हूँ—कला, कविता, काव्यकला, सबसे हीन ।" सङ्कोच और लज्जा से उसका मुखमंडल लाल हो गया था ।

"यदि वे कविताएँ कला नहीं हैं, यदि वह स्वर-ध्वनि, वह अद्भुत सङ्गीत कला नहीं है, तो भगवान् की समस्त सृष्टि कला से विहीन है ।"

अधिकारपूर्ण शब्दों में मैंने कहा। वह मौन था। कुछ देर के बाद मैंने पुनः कहा—"यह मानता हूँ, मैं कवि नहीं हूँ और न काव्य-कला का मर्म ही जानता हूँ; पर यह राय तो देश के उन दिग्गज कवियों की है। उन्होंने ही तो तुम्हें एक महान् कवि घोषित किया है !"

वह चुपचाप सुन रहा था—सङ्कोच से जैसे सिकुड़ा हुआ। थोड़ी देर के बाद उसकी आकृति सहसा बदल गई। उसका स्वाभाविक सौन्दर्य आनन्द से खिल उठा। उसकी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें आकाश की नीलिमा पर गड़ गईं। पुनः शीघ्र ही उसका मुखमंडल एक धूमिल विषाद-रेखा से म्लान हो उठा। धीरे-धीरे और कुछ उद्विग्न स्वर से वह बोला—"परन्तु, यदि वे कविताएँ सचमुच अच्छी हों, तो भी उनका श्रेय मुझको कैसा ?" उसकी आँखें पुनः शून्य आकाश पर गड़ गईं।

"फिर उनके बनाने का श्रेय किसको मिलना चाहिए—मुझे अथवा सम्मेलन में उपस्थित लोगों को ?" हँसते हुए मैंने कहा।

"उनकी रचना का श्रेय तो बन्धु... ।" वह आगे बोल न सका। उसकी आँखें भर आईं।

"बोलो...रुक क्यों गए ?" आश्चर्य और कौतूहल से मैंने कहा।

"उन कविताओं की रचना का श्रेय तो उसे मिलना चाहिए, जो मेरे हृदय में रात-दिन बैठकर मुझे जगत् में रखकर भी जगत् से ऊपर कर देती है... ।" उसका गला भर आया ! थोड़ी देर के बाद भावावेश पर विजय प्राप्त कर बोला—"उन कविताओं की रचना

का श्रेय तो उसे मिलना चाहिए, जो मेरे हृदय के अभिशाप-मन्दिर में वरदान का आलोक जलाया करती है—सदा, निरन्तर, एक भाव से, एक रस से !!"

मैं उसका आशय समझ न सका। बोला—"क्या तुम भगवती की उपसना करते हो ?"

"कैसे कहूँ 'हाँ'—कैसे कहूँ 'नहीं'' ?

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। कौतूहल से मैंने कहा—"देखो बनवारी, मैं तो तुम्हारी तरह कवि हूँ नहीं, मुझसे तो कम से कम समझ में आनेवाली भाषा में बातें करो।"

"तीन वर्षों की पाली हुई ज्वाला को, तीन वर्षों की अश्रुधारा से सींची हुई व्यथा को इतना शीघ्र कैसे कहा जा सकता है बन्धु ?" थोड़ी देर तक वह मानों गम्भीर चिन्ता में पड़ गया। फिर बोला—"वह तो एक लम्बी कहानी है—तुम्हारी और मेरी कल्पना से विस्तृत। अनवरत रूप से सुनाते रहने पर भी वह कभी समाप्त होने को नहीं।" उसका मुखमंडल हँस रहा था। उसकी आँखें ओस-कण से भींगे हुए नील पद्म की भाँति थीं !

[३]

वही माँझी था, वही नाव; बनवारी मेरे सामने बैठा था। कोई चौथा व्यक्ति न था। गङ्गा की हिलती हुई छाती को चाँदनी अभ्रक के छींटों से ढक रही थी। माँझी ने पूछा—"किधर चलें बाबू ?"

"बीच धारा में इधर-उधर घुमाते रहो।" बनवारी ने कहा। माँझी अपने काम में लग गया।

"निर्णय कर लिया ?" उत्सुकता से मैंने पूछा।

"हाँ, तैयार हूँ। जो चाहो, पूछ सकते हो; पर प्रतिज्ञा करो कि मेरे जीवन-काल तक तुम यह बात किसी पर प्रकट न होने दोगे।"

"नहीं होने दूँगा, पर तुम्हें विश्वास कैसे दिलाऊँ ?"

"बस तुम्हारा वचन ही पर्याप्त है। अब पूछ सकते हो।"

मुझे मालूम हुआ, जैसे हत्या लग गई हो। मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। बहुत प्रयत्न करने पर सुस्थिर होकर मैंने पूछा—"वह कौन है ?"

"यह तो बहुत बड़ा और कठिन प्रश्न है। मैं स्वयं नहीं जानता, वह कौन है। मैं तो उसके अनेक अपार्थिव रूपों में केवल उसके कला-रूप को ही जानता हूँ। वह कहानी लिखती है। उन कहानियों में वह मानव-वेदना और विश्ववेदना को चित्रित करती है—सुन्दर, अद्भुत और उपमाहीन रूप में।"

"वह कहाँ की रहनेवाली है ?"

"मैं नहीं जानता।"

"क्या तुम्हारा उससे परिचय नहीं ?"

"नहीं।"

"तुमने उसे कब देखा था ?"

"मैंने उसे आज तक देखा ही नहीं।"

"और बिना देखे ही, बिना जाने और सुने हुए ही...यह प्यार ?" स्तम्भित होकर मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा। वह चुपचाप गर्दन झुकाए न जाने क्या-क्या सोचता रहा। उसे मौन देख मैंने फिर कहा—"और यदि थोड़ी देर के लिए मान लो कि वह बहुत कुरूप हो......?"

"मैंने उसके मिटनेवाले सौन्दर्य के सम्बन्ध में कभी सोचा ही नहीं; मैं तो उसके हृदय के रूप की, उसकी आत्मा के रूप की, उपासना करता हूँ। मैं उसके अमर और अमिट रूप की उपासना करता हूँ।" बात काटते हुए उसने कहा।

"यह तो प्रमाद है बनवारी—ऐसा भयानक प्रमाद, जो तुम्हारा सर्वनाश कर देगा।" खिन्न स्वर में मैंने धीरे से कहा।

"भूल करते हो बन्धु···जब किसी पुरुष-हृदय में किसी नारी-रूप के लिए प्रमाद जगता है, तो उसके साथ वासना का होना अनिवार्य है। मेरे साथ यह बात नहीं है। मेरा प्यार गङ्गाजल की भाँति पवित्र है। उसमें जीवन के आत्मसमर्पण का निर्मल रूप है, जगत् की वासना की मलिनता नहीं !"

"और इस आत्म-समर्पण को तुम रात-दिन अपनी कविताओं से चित्रित किया करते हो ?"

"नहीं, मेरी वे कविताएँ उन कल्पनाओं की मूक वाणी हैं, जिनके द्वारा मैं अपनी समर्पण-कथा को प्रार्थना का रूप देने का प्रयत्न करता हूँ।"

मुझे मालूम हुआ, जैसे उसका मुखमंडल एक स्वर्गीय प्रकाश से चमक उठा हो! मुझे शान्त देखकर उसने कहा—"और भी कुछ पूछना है ?"

"उसका नाम क्या है ?" अन्यमनस्क भाव से मैंने पूछा।

"मोहिनी; परन्तु वह अपने नाम के साथ कुमारी लिखती है।"

× × ×

बनवारी के और मेरे जीवन के बीच में जो थोड़ा-सा आवरण था, उसे मोहिनी के सम्बन्ध की इस कथा ने हटा दिया था। अब वह अपनी कोई बात मुझसे छिपाता नहीं था। एक दिन वह दौड़ा-दौड़ा मेरे कमरे में आया और दरवाजा बन्द कर बोला—"दिवाकर, आज तुमसे इनाम लूँगा।" उसके हाथ में एक मासिक पत्रिका थी।

"आखिर बात क्या है—कहो भी तो।" कौतूहल से मैंने पूछा।

"देखो, यही मोहिनी हैं।" उस पत्रिका के एक चित्र को दिखलाते हुए उसने कहा। चित्र अठारह वर्ष की एक सुन्दरी तरुणी का था। बनवारी के आनन्द की कोई सीमा न थी। उसने भावावेश में मुझसे पूछा—"कहो दिवाकर, रूप इससे भी अधिक पूर्ण हो सकता है ?"

"यह सुन्दरी तो है, पर तुम्हारे सौन्दर्य के सामने कुरूप ही कही जा सकती है।" धीरे-धीरे और गम्भीरतापूर्वक मैंने कहा।

"'टेस्ट ट्यूब' और 'एसिड' ने तुम्हारे दिमाग को खराब कर

दिया है; गैसों की पहचान में रूप पहचाननेवाली तुम्हारी बुद्धि पर पाला पड़ गया है।" स्नेहपूर्ण भर्त्सना से उसने कहा।

कुछ दिनों के बाद उसका मोहिनी से पत्रव्यवहार भी होने लगा। अपने पत्रों में कभी-कभी वह हृदय-स्पर्श करनेवाली बातें लिखता। एक पत्र में उसने लिखा था—

"......तुमने लिखा है--'मेरा जीवन एक नीरव व्यथा है, उसमें न तो कोई कामना ही है और न अभाव ही।' मैं इन सुनहले शब्दों के महत्त्व की कटुता समझता हूँ, और समझते हुए भी अपने जीवन में तुम्हारा सादृश्य पूर्ण रूप से स्थापित नहीं कर पाता। कामना न होते हुए भी अभाव ही मेरे जीवन का सौन्दर्य—उसकी कला है! मैं अपने इस अभाव की उपासना करता हूँ...।"

दूसरे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"......तुम पूछती हो—'तुम्हारा यह अभाव कैसा है?' इसका उत्तर तो मेरे जीवन का कण-कण देगा...ऐसे तो सभी प्रतिकार के निमित्त ही प्रेम करते हैं; परन्तु भगवान् की सृष्टि में ऐसे लोगों की भी तो आवश्यकता है, जो बदला पाने के लिए नहीं, वरन् प्रेम की मर्यादा निभाने के निमित्त ही अपने हृदय में प्यार की ज्वाला जाग्रत रखें! अपने जीवन में अमर अभाव का अलख-रूप जगाने के लिए ही तो मैंने प्रेम किया है। यह अभाव तुम्हारे प्रणय और मेरे विरह का सन्धि-स्थल है—इसीलिए तो इसकी उपासना करता हूँ। मेरे जैसे पागलों के लिए संसार इससे अधिक और कौन-सा सुख दे सकता है?"

तीसरे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"......तुम पूछती हो—'तुम्हारा यह प्यार कैसा है' ? इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? यदि तुम संसार का सबसे सुन्दर कलाकार न होतीं, तो यह क्षम्य था ! ये शब्द तुम्हें प्रेम-तत्त्व समझाने के लिए नहीं, वरन् तुम्हारी आज्ञा का पालन करने के लिए ही लिखता हूँ । मेरा प्यार उस ज्वालामुखी की भाँति है, जो अपने भीतर विध्वंस की अग्नि छिपाते हुए भी जगत् को प्रकृति की सुन्दर हरीतिमा से आभूषित करता है । मैं अपनी हँसी के भीतर अपने अन्तर-निश्वास में लय और प्रलय की अनन्त शृङ्खला छिपाए रहता हूँ......।"

उसका चौथा पत्र इस प्रकार था—

"...तुम लिखती हो—'जब मैं तुम्हारी विचित्रता के सम्बन्ध में सोचती हूँ, मुझे बरबस हँसी आ जाती है ।' तुम्हारे इन शब्दों पर मैं अपने आँसू संवरण न कर सका ! हाय ! यदि मैं तुम्हारा हँसना एक बार अपनी आँखों देख पाता !!"

"मुझे तुम्हारी त्रुटियों से, तुम्हारे दोषों से क्या मतलब ? तुम्हारी कला और तुम्हारे जीवन-रूप की उपासना करते-करते मेरा हृदय तुम्हारे जगत्-रूप का अनुभव नहीं कर पाता । पर मैं पूछता हूँ—क्या तुम सचमुच जगत् की हो ? क्या तुम्हारे साथ भी मेरी भाँति जगत् की आकांक्षा, जगत् की आवश्यकता का बन्धन है ?..."

उसका पाँचवाँ पत्र इस प्रकार था—

"...तुम्हारी स्मृति दुर्गासप्तशती के मन्त्रों की भाँति मेरे जीवन की

सारी बाधाएँ, सारा विषाद और सारी कटुता नष्ट कर देती है—ओ निराकार करुणा ! ओ निर्विकार छवि ! भ्रान्ति और कान्ति के रूप में जब तुम्हारी रूप-रेखा मेरी आँखों के सामने आती है, उस समय मैं तुम्हें अपने भीतर साधना और सिद्धि, दोनों ही रूपों में अनुभव करता हूँ !!"

छठे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"...मेरा एक सखा है, वह मेरे अमूल्य अभाव का रहस्य जानता है। उसका कहना है, मैं अपनी कविताओं में तुम्हारे रूप को जगत् की स्याही और कूची से चित्रित नहीं करता। मैं कैसे करूँ ? तुम्हारा वह रूप तो मैंने देखा ही नहीं। वह तो उस भाग्यवान के लिए है, जो तुम्हें पत्नी के रूप में वरण करेगा ! मैंने तो केवल तुम्हारी स्वर्ग-सृष्टि, तुम्हारे स्वर्गीय रूप को ही आज तक देखा है—ओ करुणामयी, ओ कल्याणमयी !!"

सातवें पत्र में उसने यों लिखा था—

"....कब तक तुम मेरी छोटी जीवन-सीमा को अपनी असीम व्यापकता में, अपने अद्भुत लय-प्रलय में, एकाकार न कर लोगी ? क्या करुणा भी कभी निष्ठुर होती है ? सागर क्षुद्र जल-कण को कब तक अपनी भाँति असीम बनाने से वञ्चित रखेगा ?"

उसके आठवें पत्र के कुछ शब्द इस प्रकार थे—

"...सुना है, एक राजकुमार से तुम्हारा विवाह होने जा रहा है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ—बहुत सुखी हूँ। दूसरे के सुख में सुखी होना ही तो

वास्तविक प्रेम का रहस्य है; पर कभी-कभी मैं उस राजकुमार के सम्बन्ध में सोचे बिना नहीं रह पाता। कितना बड़ा भाग्य लेकर उसने जन्म लिया था !

"पर मैं उससे ईर्ष्या क्यों करूँ ? मैं उससे किस बात में कम हूँ ? यदि वह तुम्हारी प्रेम-ज्योति है, तो मैं तुम्हारी विरह-ज्वाला हूँ—यदि वह सुख और वैभव का मधुर प्रकाश है, तो मैं विषाद और कटुता का असीम अन्धकार हूँ !!"

नवें पत्र में उसके कुछ शब्द इस प्रकार थे—

"···कौन कहता है, मेरा अभाव तुमसे किसी प्रकार कम है ? मेरे हृदय में बसनेवाला तुम्हारा प्रेम और तुम्हारे वियोग की समस्त अन्धकार-सीमा, एक साथ ही, एकाकार होकर प्रतिक्षण इसमें कितनी बार उठती और मिटती है। तुम्हारे प्रेम की स्मृति मुझे रुला देती है; तुम्हारे वियोग की चिन्ता में अपनेको भूलकर मैं हँस देता हूँ !!"

उसके दसवें पत्र का कुछ अंश इस प्रकार था—

"···तुमने मुझे महान् कवि और कलाकार कहने की कृपा की है; पर मेरे जीवन में तुम्हारी विरह-कथा के अतिरिक्त और अपनी कौन-सी वस्तु है ? यदि तुम्हारा वियोग ही कला का इतना सुन्दर रूप है, तो तुम्हारी मिलन-कथा किस श्रेणी में रखी जायगी ?···"

अपने ग्यारहवें पत्र में उसने लिखा था—

"···अपनी और मेरी सीमा के बीच तुम जीवन का आवरण

और मृत्यु का अन्तर क्यों डालती हो—ओ जीवन और मृत्यु, प्रलय और शान्ति !!"

उसका बारहवाँ पत्र कविता में था। उसका कुछ अंश इस प्रकार था—

"मेरा तेरा परिचय कब का ?

अम्बर ने जब किया क्षितिज का चुम्बन, तब से—तब का !

तुम थीं अग्नि-शिखा औ' मैं था अग्नि-शिखा का ताप ;

तुम थीं प्रिय, शुचि आकर्षण, मैं विरह-जनित सन्ताप ;

ऊषा ने जब दिया गगन को अपना रूप निखार ;

—तब से तब का !!

[४]

सन् १९३४ ई० के जून में मेरे जीवन में सहसा वज्रपात हो गया। बनवारी छ महीनों से बीमार था। यद्यपि उसकी बीमारी अच्छी हो रही थी; पर अचानक उसकी मृत्यु हो गई। भारत के समस्त पत्रों ने उसके निधन पर शोक प्रकट करते हुए लिखा था कि साहित्य-जगत् का एक शक्तिशाली स्तम्भ अब इस संसार में न रहा। उस मासिक पत्रिका ने—जिसका वह सम्पादक था—तो यहाँ तक लिखा था कि "बनवारी बाबू की साहित्य-साधनाएँ संसार के प्रकाश में न आ सकीं। निश्चय ही वे एक महान् सम्पादक थे, पर यह तो उनकी महत्ता का एक अत्यन्त छोटा रूप था। उनकी वास्तविक महत्ता तो उनके कला-रूप में थी—उस कला-रूप में, जिसपर उन्होंने अपने शब्दों में 'जगत्

की दूषित दृष्टि' नहीं पड़ने दी। वे एक महान् कवि और अत्यन्त महान् पत्र-लेखक थे !!"

ठीक एक वर्ष बाद, अर्थात् सन् १६३५ ई० के जून में, मैं अपने एक प्रोफेसर मित्र और साथी के घर उसके निमन्त्रण पर गया था। वह हमारे कालेज में अँगरेजी पढ़ाता था। उससे तथा उसके परिवारवालों से मेरी पहले से ही बड़ी घनिष्ठता थी और इधर पिछले कई वर्षों से वर्ष में एक महीना उसके यहां रहने का एक प्रकार मेरा नियम-सा हो गया था।

मेरे प्रोफेसर साथी का नाम विनय था। परिवार में उसकी माँ, स्त्री और दो बच्चों के अतिरिक्त उसकी एक बहन भी थी जिसका नाम मनोरमा था। मनोरमा विनय से दो वर्ष छोटी थी। उसकी अवस्था चौबीस वर्ष की थी। वह उसी नगर के एक महिला-कालेज में दर्शन पढ़ाती थी। समाज-सेवा और अध्ययन उसके जीवन का परम लक्ष्य था। इसी लक्ष्य के कारण उसने अपना विवाह भी नहीं किया था ! विनय से भी अधिक मुझसे वह स्नेह करती। विनय की माँ भी मुझे विनय से अधिक प्यार करती !

रात के आठ बजे थे। मनोरमा के साथ मैं वाटिका में बैठा था। पास मे बच्चे खेल रहे थे। विनय की स्त्री कुछ दूर पर अपनी एक सखी से बातें कर रही थी। विनय किसी कार्य से बाहर गया था। मुझे गम्भीर और उदास देखकर मनोरमा ने कहा—"प्रोफेसरजी, आज आप बहुत खिन्न दीख पड़ते हो।" उसकी आँखें मुझ पर गड़ी हुई थीं।

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है।" अपने भावों को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए मैंने कहा।

"पर आपकी आकृति तो आपकी बातों का विरोध करती है, प्रोफेसरजी।"

"हाँ, आज कुछ खिन्नता आ गई है···मैं···मैं आज अपने एक मित्र की याद···।" मैं आगे कुछ न कह सका।

"वे आपके मित्र कौन हैं?"

"वह अब इस संसार में नहीं है। वह मेरा निकटतम बन्धु और सखा था। वह देश का महान् कवि और प्रतिष्ठित सम्पादक था।" मेरी आँखें भर आई थीं।

"कौन, बनवारी बाबू?" उसने सतर्क होकर कहा। मुझे मालूम पड़ा, उसका मुखमंडल एक अज्ञात चिन्ता से धूमिल हो गया!

"हाँ, वही। क्या तुम उसे जानती हो मनोरमा?" उसकी आकृति की परीक्षा करते हुए मैंने उससे पूछा।

"हाँ, थोड़ा जानती···नहीं, ऐसी कोई बात नहीं···" उसकी जबान लड़खड़ाने लगी।

"तुम जानती हो; पर तुम शायद कहना नहीं चाहतीं।" मैंने खिन्न होकर कहा।

"नहीं प्रोफेसरजी, मैं नहीं जानती; पर मेरी एक सखी है···।"

"कौन, मोहिनी देवी?"

"नहीं, कुमारी मोहिनी, एम० ए० ।" मेरी गलती सुधारते हुए उसने कहा । उसकी आकृति पहले की भाँति गम्भीर थी ।

"वह यहीं रहती है ?"

"यहीं—स्थानीय महिला-कालेज की वे वाइस-प्रिन्सिपल हैं ।"

"वह तुम्हारी सखी है ?"

"मेरे जीवन की सबसे निकटतम—वह मुझे अपने से भी अधिक प्रिय हैं ।"

"परन्तु वह तो पिशाचिनी है । जितनी तुम अच्छी हो, उतनी ही वह राक्षसी है ।" आवेशपूर्ण शब्दों में मैंने कहा ।

मनोरमा मानों स्तम्भित हो गई । उसके कपोल अरुण हो गए ; उसकी आँखें नीची हो गईं । प्रयत्न करने पर भी वह बोल न सकी । उसे शान्त देखकर मैंने कहा—"और एक बात तुम कदाचित् नहीं जानतीं मनोरमा । तुम्हारी इस पाषाण-हृदया सखी के सिर पर मेरे मित्र की हत्या का अपराध है !"

वह काँप उठी ! बहुत प्रयत्न कर धीरे-धीरे बोली—"परन्तु प्रोफेसरजी, आप ये बातें इसलिए कहते हैं कि आप उन्हें नहीं जानते ; आपकी उनसे मुलाकात नहीं है !"

"मैं उसे जानता हूँ—आवश्यकता से भी अधिक । हाँ, उससे मेरी मुलाकात जरूर नहीं है । उसकी आवश्यकता भी नहीं ।" मेरे स्वर में क्रोध, घृणा और आवेश था ।

"परन्तु, यदि आप एक बार उनसे मिल लेते ; अपने स्वर्गीय

मित्र के स्मृति-रक्षार्थ ही सही...।" उसके स्वर में बहुत अनुनय, बहुत ही अधिक विनय थी। मेरे हृदय में उसके शब्द गड़ गए। मैं तैयार हो गया।

विनय के घर पर ही दूसरे दिन सात बजे मोहिनी से मुलाकात हुई। देखने में वह बहुत प्रभावोत्पादक थी। प्रकृति ने उसे असाधारण सौन्दर्य दिया था। देखकर कोई सहसा नहीं कह सकता था कि उसकी अवस्था बीस वर्ष से अधिक है। मैंने मन में सोचा—निश्चय ही यह रूप बनवारी-जैसे महान् कलाकार का हृदय-स्पर्श करने की क्षमता रखता है। इस रूप पर कोई भी कलाकार अपने जीवन में आत्म-विसर्जन की आहुतियाँ जगा सकता है। पर शीघ्र ही स्मरण आया, बनवारी ने कभी इस रूप को देखा ही नहीं था; और पत्रों में प्रकाशित मोहिनी के जितने चित्र थे, वे सुन्दर होते हुए भी वास्तविक चित्र की अपेक्षा अत्यन्त हीन थे। उस समय मुझे मालूम हुआ कि मोहिनी के प्रति बनवारी का उन्मत्त प्यार पुरुष-हृदय का नारी के भ्रामक, परन्तु मिटनेवाले, रूप का प्यार नहीं था। वह तो कला-हृदय की विश्व-वेदना के साथ आँख-मिचौनी थी; मृत्यु के साथ जीवन की बाजी थी—वह बाजी, जिसमें जीवन हार गया, मृत्यु जीत गई !!

आवश्यक परिचय और अभिनन्दन के बाद साहित्य और कला की बात चली। हम चार वहाँ बैठे थे—विनय, मनोरमा, मोहिनी और मैं। बातें हो ही रही थीं कि विनय के दोनों लड़के वहाँ पहुँचे और मोहिनी से लिपट गए। मोहिनी मानों उनके साथ उनके ही अनुरूप हो

गई। कुछ देर के बाद शिष्टाचार प्रकट करते हुए बोली—"मुझे बच्चों से बहुत प्रेम है और खासकर हिटलर और मुसोलिनी के सामने तो मैं इनकी ही जाति की हो जाती हूँ।" मोहिनी ने विनय के लड़कों का नाम हिटलर और मुसोलिनी रखा था।

उसकी बातें सुनकर मुझे मालूम हुआ, मानों इस निष्ठुर नारी-हृदय में भी मातृत्व की सोई आकांक्षा, मातृत्व का सोया हाहाकार, मौजूद है। इतना होते हुए भी मोहिनी ने अपना विवाह नहीं किया था, यह जानकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मुझे जान पड़ा, जैसे वह एक रहस्य हो—अगम्य, दुर्बोध, अज्ञात ! बात के सिलसिले में विनय ने कहा—"लेकिन दिवाकर तो बालबच्चों के हिसाब से बेबाक हैं।" अवसर चूकना मैंने उचित नहीं समझा। हँसते हुए कहा—"मुझे बालबच्चों की कमी नहीं है, यदि तुम्हें देखना हो तो मेरी 'लेबोरेटरी' में देख लेना।" सभी हँसने लगे।

कुछ देर के बाद कविता की चर्चा चली। मोहिनी ने कहा—"मेरा तो काव्य-शास्त्र में बहुत कम प्रवेश है, ऐसे मैं कला के रूप में उसका बहुत आदर करती हूँ।" इतने में मनोरमा बोल उठी—"यदि कविता की कला मनुष्य-प्रकृति की अनुभूति और चिन्तन-धारा में निवास पाती हो, तो निश्चय ही उसका महत्त्व दर्शन की उपयोगिता के सामने प्रायः नहीं के समान है।"

विनय ने विरोध करते हुए कहा—"समस्त दर्शनों से युक्त मनुष्य-जीवन काव्य का प्रारम्भिक अंश है। दर्शनों के ज्ञान मनुष्य को

जगत्, जीवन और अध्यात्म की समस्याओं, उसके भेद-उपभेद से परिचित कराते हैं; परन्तु इस ज्ञान के बाद जब उसे आत्म-निर्माण करने का अवसर आता है, तो उसे काव्य-कला का ही आश्रय लेना पड़ता है!"

इसके बाद कवियों की चर्चा चली। मैंने मोहिनी को सङ्केत करते हुए पूछा—"आप बनवारी बाबू की कविताओं-को कैसा समझती हैं?"

मोहिनी का मुखमंडल क्षण-भर के लिए धूमिल हो गया; परन्तु अपने भाव को छिपाते हुए उसने कहा—"उनकी अधिकांश कविताएँ तो साहित्य-संसार के सामने आईं ही नहीं···वे भी एक विचित्र आदमी थे।" मुझे जान पड़ा, जैसे उसके स्वर में उपहास हो! मैं तिलमिला उठा। चाहते हुए भी अपनेको रोक न सका। बोला—

"मोहिनी देवी, बनवारी बाबू अब इस संसार में नहीं हैं, ऐसी दशा में उनके प्रति आपके ये शब्द शोभा नहीं देते!"

वह इस प्रकार चौंक पड़ी, मानों कोई भयानक स्वप्न देखकर उठी हो। थोड़ी देर के बाद बोली—"मेरा आशय किसी प्रकार भी उनकी अप्रतिष्ठा करना अथवा उनके विरुद्ध कुछ कहना न था।"

"ऐसा करना भी नहीं चाहिए···कहानी-लेखन-कला की छोटी कल्पनाएँ उस सीमा तक नहीं पहुँच सकतीं, जहाँ बनवारी बाबू की महत्ता का प्रारम्भ था!" घृणा और क्रोध से कहते हुए मैं उस मंडली से उठकर बगीचे में चला गया।

का श्रेय तो उसे मिलना चाहिए, जो मेरे हृदय के अभिशाप-मन्दिर में वरदान का आलोक जलाया करती है—सदा, निरन्तर, एक भाव से, एक रस से !!"

मैं उसका आशय समझ न सका। बोला—"क्या तुम भगवती की उपसना करते हो ?"

"कैसे कहूँ 'हाँ'—कैसे कहूँ 'नहीं'" ?

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। कौतूहल से मैंने कहा—"देखो बनवारी, मैं तो तुम्हारी तरह कवि हूँ नहीं, मुझसे तो कम से कम समझ में आनेवाली भाषा में बातें करो।"

"तीन वर्षों की पाली हुई ज्वाला को, तीन वर्षों की अश्रुधारा से सींची हुई व्यथा को इतना शीघ्र कैसे कहा जा सकता है बन्धु ?" थोड़ी देर तक वह मानों गम्भीर चिन्ता में पड़ गया। फिर बोला—"वह तो एक लम्बी कहानी है—तुम्हारी और मेरी कल्पना से विस्तृत। अनवरत रूप से सुनाते रहने पर भी वह कभी समाप्त होने को नहीं।" उसका मुखमंडल हँस रहा था। उसकी आँखें ओस-कण से भींगे हुए नील पद्म की भाँति थीं !

[३]

वही माँझी था, वही नाव; बनवारी मेरे सामने बैठा था। कोई चौथा व्यक्ति न था। गङ्गा की हिलती हुई छाती को चाँदनी अभ्रक के छींटों से ढक रही थी। माँझी ने पूछा—"किधर चलें बाबू ?"

"बीच धारा में इधर-उधर घुमाते रहो।" बनवारी ने कहा। माँझी अपने काम में लग गया।

"निर्णय कर लिया ?" उत्सुकता से मैंने पूछा।

"हाँ, तैयार हूँ। जो चाहो, पूछ सकते हो; पर प्रतिज्ञा करो कि मेरे जीवन-काल तक तुम यह बात किसी पर प्रकट न होने दोगे।"

"नहीं होने दूँगा, पर तुम्हें विश्वास कैसे दिलाऊँ ?"

"बस तुम्हारा वचन ही प्रर्याप्त है। अब पूछ सकते हो।"

मुझे मालूम हुआ, जैसे हत्या लग गई हो। मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। बहुत प्रयत्न करने पर सुस्थिर होकर मैंने पूछा—"वह कौन है ?"

"यह तो बहुत बड़ा और कठिन प्रश्न है। मैं स्वयं नहीं जानता, वह कौन है। मैं तो उसके अनेक अपार्थिव रूपों में केवल उसके कला-रूप को ही जानता हूँ। वह कहानी लिखती है। उन कहानियों में वह मानव-वेदना और विश्ववेदना को चित्रित करती है—सुन्दर, अद्भुत और उपमाहीन रूप में।"

"वह कहाँ की रहनेवाली है ?"

"मैं नहीं जानता।"

"क्या तुम्हारा उससे परिचय नहीं ?"

"नहीं।"

"तुमने उसे कब देखा था ?"

"मैंने उसे आज तक देखा ही नहीं।"

"और बिना देखे ही, बिना जाने और सुने हुए ही...यह प्यार !" स्तम्भित होकर मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा। वह चुपचाप गर्दन झुकाए न जाने क्या-क्या सोचता रहा। उसे मौन देख मैंने फिर कहा—"और यदि थोड़ी देर के लिए मान लो कि वह बहुत कुरूप हो......?"

"मैंने उसके मिटनेवाले सौन्दर्य के सम्बन्ध में कभी सोचा ही नहीं; मैं तो उसके हृदय के रूप की, उसकी आत्मा के रूप की, उपासना करता हूँ। मैं उसके अमर और अमिट रूप की उपासना करता हूँ।" बात काटते हुए उसने कहा।

"यह तो प्रमाद है बनवारी—ऐसा भयानक प्रमाद, जो तुम्हारा सर्वनाश कर देगा।" खिन्न स्वर में मैंने धीरे से कहा।

"भूल करते हो बन्धु···जब किसी पुरुष-हृदय में किसी नारी-रूप के लिए प्रमाद जगता है, तो उसके साथ वासना का होना अनिवार्य है। मेरे साथ यह बात नहीं है। मेरा प्यार गङ्गाजल की भाँति पवित्र है। उसमें जीवन के आत्मसमर्पण का निर्मल रूप है, जगत् की वासना की मलिनता नहीं !"

"और इस आत्म-समर्पण को तुम रात-दिन अपनी कविताओं से चित्रित किया करते हो ?"

"नहीं, मेरी वे कविताएँ उन कल्पनाओं की मूक वाणी हैं, जिनके द्वारा मैं अपनी समर्पण-कथा को प्रार्थना का रूप देने का प्रयत्न करता हूँ।"

मुझे मालूम हुआ, जैसे उसका मुखमंडल एक स्वर्गीय प्रकाश से चमक उठा हो! मुझे शान्त देखकर उसने कहा—"और भी कुछ पूछना है ?"

"उसका नाम क्या है ?" अन्यमनस्क भाव से मैंने पूछा।

"मोहिनी; परन्तु वह अपने नाम के साथ कुमारी लिखती है।"

× × ×

बनवारी के और मेरे जीवन के बीच में जो थोड़ा-सा आवरण था, उसे मोहिनी के सम्बन्ध की इस कथा ने हटा दिया था। अब वह अपनी कोई बात मुझसे छिपाता नहीं था। एक दिन वह दौड़ा-दौड़ा मेरे कमरे में आया और दरवाजा बन्द कर बोला—"दिवाकर, आज तुमसे इनाम लूँगा।" उसके हाथ में एक मासिक पत्रिका थी।

"आखिर बात क्या है—कहो भी तो।" कौतूहल से मैंने पूछा।

"देखो, यही मोहिनी हैं।" उस पत्रिका के एक चित्र को दिखलाते हुए उसने कहा। चित्र अठारह वर्ष की एक सुन्दरी तरुणी का था। बनवारी के आनन्द की कोई सीमा न थी। उसने भावावेश में मुझसे पूछा—"कहो दिवाकर, रूप इससे भी अधिक पूर्ण हो सकता है ?"

"यह सुन्दरी तो है, पर तुम्हारे सौन्दर्य के सामने कुरूप ही कही जा सकती है।" धीरे-धीरे और गम्भीरतापूर्वक मैंने कहा।

"'टेस्ट ट्यूब' और 'एसिड' ने तुम्हारे दिमाग को खराब कर

दिया है; गैरों की पहचान में रूप पहचाननेवाली तुम्हारी बुद्धि पर पाला पड़ गया है।" स्नेहपूर्ण भर्त्सना से उसने कहा।

कुछ दिनों के बाद उसका मोहिनी से पत्रव्यवहार भी होने लगा। अपने पत्रों में कभी-कभी वह हृदय-स्पर्श करनेवाली बातें लिखता। एक पत्र में उसने लिखा था—

"······तुमने लिखा है—'मेरा जीवन एक नीरव व्यथा है, उसमें न तो कोई कामना ही है और न अभाव ही।' मैं इन सुनहले शब्दों के महत्त्व की कटुता समझता हूँ, और समझते हुए भी अपने जीवन में तुम्हारा सादृश्य पूर्ण रूप से स्थापित नहीं कर पाता। कामना न होते हुए भी अभाव ही मेरे जीवन का सौन्दर्य—उसकी कला है! मैं अपने इस अभाव की उपासना करता हूँ···।"

दूसरे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"······तुम पूछती हो—'तुम्हारा यह अभाव कैसा है?' इसका उत्तर तो मेरे जीवन का कण-कण देगा···ऐसे तो सभी प्रतिकार के निमित्त ही प्रेम करते हैं; परन्तु भगवान् की सृष्टि में ऐसे लोगों की भी तो आवश्यकता है, जो बदला पाने के लिए नहीं, वरन् प्रेम की मर्यादा निभाने के निमित्त ही अपने हृदय में प्यार की ज्वाला जाग्रत रखें! अपने जीवन में अमर अभाव का अलख-रूप जगाने के लिए ही तो मैंने प्रेम किया है। यह अभाव तुम्हारे प्रणय और मेरे विरह का सन्धि-स्थल है—इसीलिए तो इसकी उपासना करता हूँ। मेरे जैसे पागलों के लिए संसार इससे अधिक और कौन-सा सुख दे सकता है?"

तीसरे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"......तुम पूछती हो—'तुम्हारा यह प्यार कैसा है' ? इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? यदि तुम संसार का सबसे सुन्दर कलाकार न होतीं, तो यह क्षम्य था ! ये शब्द तुम्हें प्रेम-तत्त्व समझाने के लिए नहीं, वरन् तुम्हारी आज्ञा का पालन करने के लिए ही लिखता हूँ। मेरा प्यार उस ज्वालामुखी की भाँति है, जो अपने भीतर विध्वंस की अग्नि छिपाते हुए भी जगत् को प्रकृति की सुन्दर हरीतिमा से आभूषित करता है। मैं अपनी हँसी के भीतर अपने अन्तर-निश्वास में लय और प्रलय की अनन्त श्रृङ्खला छिपाए रहता हूँ......।"

उसका चौथा पत्र इस प्रकार था—

"...तुम लिखती हो—'जब मैं तुम्हारी विचित्रता के सम्बन्ध में सोचती हूँ, मुझे बरबस हँसी आ जाती है।' तुम्हारे इन शब्दों पर मैं अपने आँसू संवरण न कर सका ! हाय ! यदि मैं तुम्हारा हँसना एक बार अपनी आँखों देख पाता !!"

"मुझे तुम्हारी त्रुटियों से, तुम्हारे दोषों से क्या मतलब ? तुम्हारी कला और तुम्हारे जीवन-रूप की उपासना करते-करते मेरा हृदय तुम्हारे जगत्-रूप का अनुभव नहीं कर पाता। पर मैं पूछता हूँ—क्या तुम सचमुच जगत् की हो ? क्या तुम्हारे साथ भी मेरी भाँति जगत् की आकांक्षा, जगत् की आवश्यकता का बन्धन है ?..."

उसका पाँचवाँ पत्र इस प्रकार था—

"...तुम्हारी स्मृति दुर्गासप्तशती के मन्त्रों की भाँति मेरे जीवन की

सारी बाधाएँ, सारा विषाद और सारी कटुता नष्ट कर देती है—ओ निराकार करुणा ! ओ निर्विकार छवि ! भ्रान्ति और कान्ति के रूप में जब तुम्हारी रूप-रेखा मेरी आँखों के सामने आती है, उस समय मैं तुम्हें अपने भीतर साधना और सिद्धि, दोनों ही रूपों में अनुभव करता हूँ !!"

छठे पत्र में उसने इस प्रकार लिखा था—

"...मेरा एक सखा है, वह मेरे अमूल्य अभाव का रहस्य जानता है। उसका कहना है, मैं अपनी कविताओं में तुम्हारे रूप को जगत् की स्याही और कूची से चित्रित नहीं करता। मैं कैसे करूँ ? तुम्हारा वह रूप तो मैंने देखा ही नहीं। वह तो उस भाग्यवान के लिए है, जो तुम्हें पत्नी के रूप में वरण करेगा ! मैंने तो केवल तुम्हारी स्वर्ग-सृष्टि, तुम्हारे स्वर्गीय रूप को ही आज तक देखा है—ओ करुणामयी, ओ कल्याणमयी !!"

सातवें पत्र में उसने यों लिखा था—

"....कब तक तुम मेरी छोटी जीवन-सीमा को अपनी असीम व्यापकता में, अपने अद्भुत लय-प्रलय में, एकाकार न कर लोगी ? क्या करुणा भी कभी निष्ठुर होती है ? सागर क्षुद्र जल-कण को कब तक अपनी भाँति असीम बनाने से वञ्चित रखेगा ?"

उसके आठवें पत्र के कुछ शब्द इस प्रकार थे—

"...सुना है, एक राजकुमार से तुम्हारा विवाह होने जा रहा है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ—बहुत सुखी हूँ। दूसरे के सुख में सुखी होना ही तो

वास्तविक प्रेम का रहस्य है; पर कभी-कभी मैं उस राजकुमार के सम्बन्ध में सोचे बिना नहीं रह पाता। कितना बड़ा भाग्य लेकर उसने जन्म लिया था !

"पर मैं उससे ईर्ष्या क्यों करूँ ? मैं उससे किस बात में कम हूँ ? यदि वह तुम्हारी प्रेम-ज्योति है, तो मैं तुम्हारी विरह-ज्वाला हूँ—यदि वह सुख और वैभव का मधुर प्रकाश है, तो मैं विषाद और कटुता का असीम अन्धकार हूँ !!"

नवें पत्र में उसके कुछ शब्द इस प्रकार थे—

"···कौन कहता है, मेरा अभाव तुमसे किसी प्रकार कम है ? मेरे हृदय में बसनेवाला तुम्हारा प्रेम और तुम्हारे वियोग की समस्त अन्धकार-सीमा, एक साथ ही, एकाकार होकर प्रतिक्षण इसमें कितनी बार उठती और मिटती है। तुम्हारे प्रेम की स्मृति मुझे रुला देती है; तुम्हारे वियोग की चिन्ता में अपनेको भूलकर मैं हँस देता हूँ !!"

उसके दसवें पत्र का कुछ अंश इस प्रकार था—

"···तुमने मुझे महान् कवि और कलाकार कहने की कृपा की है; पर मेरे जीवन में तुम्हारी विरह-कथा के अतिरिक्त और अपनी कौन-सी वस्तु है ? यदि तुम्हारा वियोग ही कला का इतना सुन्दर रूप है, तो तुम्हारी मिलन-कथा किस श्रेणी में रखी जायगी ?···"

अपने ग्यारहवें पत्र में उसने लिखा था—

"···अपनी और मेरी सीमा के बीच तुम जीवन का आवरण

और मृत्यु का अन्तर क्यों डालती हो—ओ जीवन और मृत्यु, प्रलय और शान्ति !!"

उसका बारहवाँ पत्र कविता में था। उसका कुछ अंश इस प्रकार था—

"मेरा तेरा परिचय कब का ?
अम्बर ने जब किया क्षितिज का चुम्बन, तब से—तब का !
तुम थीं अग्नि-शिखा औ' मैं था अग्नि-शिखा का ताप ;
तुम थीं प्रिय, शुचि आकर्षण, मैं विरह-जनित सन्ताप ;
ऊषा ने जब दिया गगन को अपना रूप निखार ;
—तब से तब का !!

[४]

सन् १९३४ ई० के जून में मेरे जीवन में सहसा वज्रपात हो गया। बनवारी छ महीनों से बीमार था। यद्यपि उसकी बीमारी अच्छी हो रही थी; पर अचानक उसकी मृत्यु हो गई। भारत के समस्त पत्रों ने उसके निधन पर शोक प्रकट करते हुए लिखा था कि साहित्य-जगत् का एक शक्तिशाली स्तम्भ अब इस संसार में न रहा। उस मासिक पत्रिका ने—जिसका वह सम्पादक था—तो यहाँ तक लिखा था कि "बनवारी बाबू की साहित्य-साधनाएँ संसार के प्रकाश में न आ सकीं। निश्चय ही वे एक महान् सम्पादक थे, पर यह तो उनकी महत्ता का एक अत्यन्त छोटा रूप था। उनकी वास्तविक महत्ता तो उनके कला-रूप में थी—उस कला-रूप में, जिसपर उन्होंने अपने शब्दों में 'जगत्

की दूषित दृष्टि' नहीं पड़ने दी। वे एक महान् कवि और अत्यन्त महान् पत्र-लेखक थे !!"

ठीक एक वर्ष बाद, अर्थात् सन् १६३५ ई० के जून में, मैं अपने एक प्रोफेसर मित्र और साथी के घर उसके निमन्त्रण पर गया था। वह हमारे कालेज में अँगरेजी पढ़ाता था। उससे तथा उसके परिवारवालों से मेरी पहले से ही बड़ी घनिष्ठता थी और इधर पिछले कई वर्षों से वर्ष में एक महीना उसके यहाँ रहने का एक प्रकार मेरा नियम-सा हो गया था।

मेरे प्रोफेसर साथी का नाम विनय था। परिवार में उसकी माँ, स्त्री और दो बच्चों के अतिरिक्त उसकी एक बहन भी थी जिसका नाम मनोरमा था। मनोरमा विनय से दो वर्ष छोटी थी। उसकी अवस्था चौबीस वर्ष की थी। वह उसी नगर के एक महिला-कालेज में दर्शन पढ़ाती थी। समाज-सेवा और अध्ययन उसके जीवन का परम लक्ष्य था। इसी लक्ष्य के कारण उसने अपना विवाह भी नहीं किया था ! विनय से भी अधिक मुझसे वह स्नेह करती। विनय की माँ भी मुझे विनय से अधिक प्यार करती !

रात के आठ बजे थे। मनोरमा के साथ मैं वाटिका में बैठा था। पास में बच्चे खेल रहे थे। विनय की स्त्री कुछ दूर पर अपनी एक सखी से बातें कर रही थी। विनय किसी कार्य से बाहर गया था। मुझे गम्भीर और उदास देखकर मनोरमा ने कहा—"प्रोफेसरजी, आज आप बहुत खिन्न दीख पड़ते हो।" उसकी आँखें मुझ पर गड़ी हुई थीं।

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है।" अपने भावों को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए मैंने कहा।

"पर आपकी आकृति तो आपकी बातों का विरोध करती है, प्रोफेसरजी।"

"हाँ, आज कुछ खिन्नता आ गई है···मैं···मैं आज अपने एक मित्र की याद···।" मैं आगे कुछ न कह सका।

"वे आपके मित्र कौन हैं ?"

"वह अब इस संसार में नहीं है। वह मेरा निकटतम बन्धु और सखा था। वह देश का महान् कवि और प्रतिष्ठित सम्पादक था।" मेरी आँखें भर आई थीं।

"कौन, बनवारी बाबू ?" उसने सतर्क होकर कहा। मुझे मालूम पड़ा, उसका मुखमंडल एक अज्ञात चिन्ता से धूमिल हो गया !

"हाँ, वही। क्या तुम उसे जानती हो मनोरमा ?" उसकी आकृति की परीक्षा करते हुए मैंने उससे पूछा।

"हाँ, थोड़ा जानती···नहीं, ऐसी कोई बात नहीं···" उसकी जबान लड़खड़ाने लगी।

"तुम जानती हो; पर तुम शायद कहना नहीं चाहतीं।" मैंने खिन्न होकर कहा।

"नहीं प्रोफेसरजी, मैं नहीं जानती; पर मेरी एक सखी है···।"

"कौन, मोहिनी देवी ?"

"नहीं, कुमारी मोहिनी, एम० ए० ।" मेरी गलती सुधारते हुए उसने कहा। उसकी आकृति पहले की भाँति गम्भीर थी।

"वह यहीं रहती है ?"

"यहीं—स्थानीय महिला-कालेज की वे वाइस-प्रिन्सिपल हैं।"

"वह तुम्हारी सखी है ?"

"मेरे जीवन की सबसे निकटतम—वह मुझे अपने से भी अधिक प्रिय हैं।"

"परन्तु वह तो पिशाचिनी है। जितनी तुम अच्छी हो, उतनी ही वह राक्षसी है।" आवेशपूर्ण शब्दों में मैंने कहा।

मनोरमा मानों स्तम्भित हो गई। उसके कपोल अरुण हो गए ; उसकी आँखें नीची हो गईं। प्रयत्न करने पर भी वह बोल न सकी। उसे शान्त देखकर मैंने कहा—"और एक बात तुम कदाचित् नहीं जानतीं मनोरमा। तुम्हारी इस पाषाण-हृदया सखी के सिर पर मेरे मित्र की हत्या का अपराध है !"

वह काँप उठी ! बहुत प्रयत्न कर धीरे-धीरे बोली—"परन्तु प्रोफेसरजी, आप ये बातें इसलिए कहते हैं कि आप उन्हें नहीं जानते ; आपकी उनसे मुलाकात नहीं है !"

"मैं उसे जानता हूँ—आवश्यकता से भी अधिक। हाँ, उससे मेरी मुलाकात जरूर नहीं है। उसकी आवश्यकता भी नहीं।" मेरे स्वर में क्रोध, घृणा और आवेश था।

"परन्तु, यदि आप एक बार उनसे मिल लेते ; अपने स्वर्गीय

मित्र के स्मृति-रक्षार्थ ही सही...।" उसके स्वर में बहुत अनुनय, बहुत ही अधिक विनय थी। मेरे हृदय में उसके शब्द गड़ गए। मैं तैयार हो गया।

विनय के घर पर ही दूसरे दिन सात बजे मोहिनी से मुलाकात हुई। देखने में वह बहुत प्रभावोत्पादक थी। प्रकृति ने उसे असाधारण सौन्दर्य दिया था। देखकर कोई सहसा नहीं कह सकता था कि उसकी अवस्था बीस वर्ष से अधिक है। मैंने मन में सोचा—निश्चय ही यह रूप बनवारी-जैसे महान् कलाकार का हृदय-स्पर्श करने की क्षमता रखता है। इस रूप पर कोई भी कलाकार अपने जीवन में आत्म-विसर्जन की आहुतियाँ जगा सकता है। पर शीघ्र ही स्मरण आया, बनवारी ने कभी इस रूप को देखा ही नहीं था; और पत्रों में प्रकाशित मोहिनी के जितने चित्र थे, वे सुन्दर होते हुए भी वास्तविक चित्र की अपेक्षा अत्यन्त हीन थे। उस समय मुझे मालूम हुआ कि मोहिनी के प्रति बनवारी का उन्मत्त प्यार पुरुष-हृदय का नारी के भ्रामक, परन्तु मिटनेवाले, रूप का प्यार नहीं था। वह तो कला-हृदय की विश्व-वेदना के साथ आँख-मिचौनी थी; मृत्यु के साथ जीवन की बाजी थी—वह बाजी, जिसमें जीवन हार गया, मृत्यु जीत गई !!

आवश्यक परिचय और अभिनन्दन के बाद साहित्य और कला की बात चली। हम चार वहाँ बैठे थे—विनय, मनोरमा, मोहिनी और मैं। बातें हो ही रही थीं कि विनय के दोनों लड़के वहाँ पहुँचे और मोहिनी से लिपट गए। मोहिनी मानों उनके साथ उनके ही अनुरूप हो

गई। कुछ देर के बाद शिष्टाचार प्रकट करते हुए बोली—"मुझे बच्चों से बहुत प्रेम है और खासकर हिटलर और मुसोलिनी के सामने तो मैं इनकी ही जाति की हो जाती हूँ।" मोहिनी ने विनय के लड़कों का नाम हिटलर और मुसोलिनी रखा था।

उसकी बातें सुनकर मुझे मालूम हुआ, मानों इस निष्ठुर नारी-हृदय में भी मातृत्व की सोई आकांक्षा, मातृत्व का सोया हाहाकार, मौजूद है। इतना होते हुए भी मोहिनी ने अपना विवाह नहीं किया था, यह जानकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मुझे जान पड़ा, जैसे वह एक रहस्य हो—अगम्य, दुर्बोध, अज्ञात! बात के सिलसिले में विनय ने कहा—"लेकिन दिवाकर तो बालबच्चों के हिसाब से बेबाक हैं।" अवसर चूकना मैंने उचित नहीं समझा। हँसते हुए कहा—"मुझे बालबच्चों की कमी नहीं है, यदि तुम्हें देखना हो तो मेरी 'लेबोरेटरी' में देख लेना।" सभी हँसने लगे।

कुछ देर के बाद कविता की चर्चा चली। मोहिनी ने कहा—"मेरा तो काव्य-शास्त्र में बहुत कम प्रवेश है, ऐसे मैं कला के रूप में उसका बहुत आदर करती हूँ।" इतने में मनोरमा बोल उठी—"यदि कविता की कला मनुष्य-प्रकृति की अनुभूति और चिन्तन-धारा में निवास पाती हो, तो निश्चय ही उसका महत्त्व दर्शन की उपयोगिता के सामने प्रायः नहीं के समान है।"

विनय ने विरोध करते हुए कहा—"समस्त दर्शनों से युक्त मनुष्य-जीवन काव्य का प्रारम्भिक अंश है। दर्शनों के ज्ञान मनुष्य को

जगत्, जीवन और अध्यात्म की समस्याओं, उसके भेद-उपभेद से परिचित कराते हैं; परन्तु इस ज्ञान के बाद जब उसे आत्म-निर्माण करने का अवसर आता है, तो उसे काव्य-कला का ही आश्रय लेना पड़ता है !"

इसके बाद कवियों की चर्चा चली। मैंने मोहिनी को सङ्केत करते हुए पूछा—"आप बनवारी बाबू की कविताओं-को कैसा समझती हैं ?"

मोहिनी का मुखमंडल क्षण-भर के लिए धूमिल हो गया; परन्तु अपने भाव को छिपाते हुए उसने कहा—"उनकी अधिकांश कविताएँ तो साहित्य-संसार के सामने आईं ही नहीं···वे भी एक विचित्र आदमी थे।" मुझे जान पड़ा, जैसे उसके स्वर में उपहास हो ! मैं तिलमिला उठा। चाहते हुए भी अपनेको रोक न सका। बोला—

"मोहिनी देवी, बनवारी बाबू अब इस संसार में नहीं हैं, ऐसी दशा में उनके प्रति आपके ये शब्द शोभा नहीं देते !"

वह इस प्रकार चौंक पड़ी, मानों कोई भयानक स्वप्न देखकर उठी हो। थोड़ी देर के बाद बोली—"मेरा आशय किसी प्रकार भी उनकी अप्रतिष्ठा करना अथवा उनके विरुद्ध कुछ कहना न था।"

"ऐसा करना भी नहीं चाहिए···कहानी-लेखन-कला की छोटी कल्पनाएँ उस सीमा तक नहीं पहुँच सकतीं, जहाँ बनवारी बाबू की महत्ता का प्रारम्भ था !" घृणा और क्रोध से कहते हुए मैं उस मंडली से उठकर बगीचे में चला गया।

होकर बोली—"तो मेरा हृदय तुम्हारे प्रणय के मर्म को क्यों नहीं समझ पाता ?"

"यदि न समझता तो इतनी बाधाओं के रहते भी तुम इन वन-पर्वतों में क्योंकर मारी फिरतीं ?"

राजकुमारी का मुखमंडल एक नवीन आशा से दीप्तिमान हो उठा।

३

राजकुमारी के जीवन में सहसा एक बड़ा परिवर्त्तन हो गया। उसने अपने समस्त आभूषण, अपने समस्त शृङ्गार त्याग दिए और संन्यासिनी की भाँति अत्यन्त सादे वस्त्र में रहने लगी। साथ ही उसने दिन-रात घूमना छोड़ दिया। प्रातः अथवा सन्ध्या समय कभी-कभी वह अपने राजप्रासाद से लगे हुए कुञ्ज-वन में जाती और वहाँ घंटों बैठी हुई न जाने क्या-क्या सोचती। उसकी ऐसी चिन्तन-दशा में उसकी सबसे प्रिय दासी का भी प्रवेश निषिद्ध था !

एक दिन प्रातःकाल वह अपने कुञ्ज-वन में बैठी थी कि कुछ दूर पर उद्यान के एक एकान्त कक्ष में उसने अपने चित्रकार को देखा। वह एक वृक्ष के नीचे एक झाड़ी की ओट में छिपकर बैठा था। राजकुमारी का हृदय आन्दोलित हो उठा और उसकी नस-नस में बिजली दौड़ गई। वह सोचने लगी—"मैं उससे कैसे मिलूँगी, क्या बातें करूँगी, उसके सामने अपने हृदय की सारी व्यथाएँ किस भाँति रक्खूँगी ?"

वह आगे कुछ सोच न सकी। भाव के प्रवाह ने उसके मस्तिष्क को अर्ध-विक्षिप्त-सा कर दिया। वह दबे पाँव उसकी ओर जाने लगी जिससे उसकी आहट सुनकर चित्रकार फिर भी कहीं भाग न जाय। उसके पास पहुँचकर वह झाड़ी की आड़ में छिपकर उसे देखने लगी, पर जो दृश्य देखा उसे देखते ही उसका हृदय भय से काँप उठा और उसके प्राण सूखने लगे।

राजकुमारी ने देखा कि उसका चित्रकार मनुष्य की भाँति नहीं है। राक्षसों की भाँति उसका लम्बा शरीर, बड़ी-बड़ी काली बाँहें, लाल-लाल भयानक आँखें, निकले हुए लम्बे और डरावने दाँत देख कर वह भयभीत हो गई। अपने मस्तिष्क में अपने चित्रकार के रूप की जो कुछ सुन्दर कल्पनाएँ उसने की थीं, वे ठीक विपरीत ही प्रमाणित हुईं। उसने सोचा—"हाय, इस नर-राक्षस के लिए ही जगत् और जीवन के सारे सुखों की तिलाञ्जलि दे वन-वन मारी फिरी! मैं इसे अपना चित्रकार, अपना प्रियतम, अपना स्वामी कैसे मानूँ? क्या मेरा चित्रकार इस दैत्य की भाँति कुरूप और निष्ठुर है? और यदि सचमुच वह ऐसा ही है तो इसे स्वामी के रूप में वरण करने की अपेक्षा अच्छा तो यह होगा कि मैं कहीं डूब मरूँ अथवा इसके सामने जाकर खड़ी हो जाऊँ जिससे यह अपने विकराल, लम्बे दाँतों से मेरा भक्षण कर ले। निश्चय ही मेरा चित्रकार यह दानव नहीं हो सकता।"

राजकुमारी का हृदय निराशा से आन्दोलित हो उठा। उसने

निश्चय किया, बिना चित्रकार के इस भारमय जीवन का अन्त करने में ही सुख है। यह निश्चय कर वह उसके सामने जाने ही वाली थी कि एक अनपेक्षित घटना से उसके आश्चर्य की सीमा न रही।

राजकुमारी ने देखा कि वह भीमकाय दैत्य चारों ओर आँखें फाड़कर देख रहा है। पास में किसी को न देखकर अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अपना छद्म वेश एक-एक करके हटाने लगा। और जब उसने अपने मुँह से उस भयानक, नकली चेहरे को दूर किया तो उसका वास्तविक रूप अनन्त कामदेव को लज्जित करनेवाला था!

राजकुमारी के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह अपने चित्रकार के इस रूप को देखकर छक गई। धीरे-धीरे दबे पाँव से चल वह उसके पीछे चुपचाप खड़ी हो गई। देखा, उसका चित्रकार तितलियों के पङ्खों पर कूँची चला रहा है। इसी समय एक तितली उड़ती हुई राजकुमारी के हाथ पर बैठ गई। कूची की तरलता उसके पङ्खों से अभी तक सूखी न थी और उससे सन्दल की सौरभ-सुषमा आ रही थी।

चित्रकार इस प्रकार असंख्य तितलियों को रँग कर उन्हें मुक्त कर देता और वे आकाश में उड़ जातीं। तितलियों का रँगना समाप्त कर उसने एक पुष्प लिया और अभी उसे पूरा रँग भी न सका था कि उसने राजकुमारी की ओर देखा। अपनी अज्ञात कला-चातुरी में पकड़ा जाने पर वह लज्जित हो गया। राजकुमारी उसे मूर्तिवत् देखती रही। उसका कंठ भर आया और एक अननुभूत अनुभव से उसका मस्तिष्क शून्य हो गया। वह बावली-सी हो गई!

राजकुमारी की यह दशा देख चित्रकार के हृदय में दया आ गई। उसने उसके मस्तक पर एक बार हाथ फेर दिया और पलक गिरते राजकुमारी ने अपनी समस्त चेतना प्राप्त कर ली। उसकी वाणी उसे पुनः प्राप्त हो गई।

"तुम यहाँ क्यों आईं राजकुमारी ?"—चित्रकार ने मुसकुराते हुए अत्यन्त कोमल वाणी में पूछा।

उस अमृत-वाणी को सुन राजकुमारी के प्राण आनन्द से सिहर उठे। अत्यन्त विनम्र-वाणी में उसने कहा—"देव ! समस्त चराचर में तुम्हारी यह अद्भुत चित्रकारी देखकर मैं बावली-सी तुम्हारी खोज में बन-बन भटक रही थी, इसलिए कि तुम कभी तो दया करोगे...... तुम दया के सागर जो हो......।" वह आगे बोल न सकी और उद्भ्रान्त हो उसकी छवि देखती रही।

चित्रकार ने पुनः उसके मस्तक पर हाथ फेरा। और उसी प्रकार कोमल शब्दों में पुनः पूछा—"तुम यहाँ क्यों आईं राजकुमारी ?"

"इसलिए स्वामी कि जब तुम मिलोगे, मैं तुम्हारे चरणों के आश्रित हो तुमसे अपने हृदय की सारी व्यथाएँ कहूँगी और तुमसे पूछूँगी कि जल, थल, आकाश आदि की सृष्टि कर जो तुम अपने असंख्य हाथों द्वारा अपने समस्त लोकों में सर्वत्र, नित्य ही नई-नई चित्रकारी, नई-नई रचना संसार की आँखें बचाकर करते हो—इसमें तुम्हारा कौन-सा रहस्य, कौन-सा आनन्द छिपा है ?"

राजकुमारी की वाणी पुनः लौट आई !

"इन भिन्न-भिन्न रचनाओं और कला के रूप में मैं समस्त विश्व में अपने प्रेम का अमृत सींचता हूँ, जिसके सहारे मनुष्य जीवन और मरण की बाधाओं में सुख तथा शान्ति एवं उनके असह्य कष्टों से त्राण पा सके!" चित्रकार की मुसकुराहट से उस लता-निकुञ्ज में एक अद्भुत जीवन एवं स्पन्दन जाग उठा था !

"तो तुमने जो उस अतल और अनन्त सागर में न जाने कितने विश्वों की कला-चातुरी मनुष्य की आँखों से छिपा रक्खी है—इसका कारण ?"—राजकुमारी ने जिज्ञासा-भरे शब्दों में पूछा ।

"इसलिए कि उसके द्वारा मैं मनुष्य-हृदय के प्रेम का माप कर सकूँगा। जो मुझे अथवा मेरी कला के रूप में मेरे प्रेम-अमृत को अपने जगत-जीवन से अधिक मूल्यवान समझते हैं; वे निर्भय, निस्संकोच हो अपने प्राणों की बाज़ी लगा कर मेरे रहस्य, प्रेम-अमृत के रहस्य की खोज में उस समुद्र की अतल गोद में डुबकी लगायँगे।"

इतने में उनके पास दो पक्षी-दम्पति उड़ते हुए आ गए। दोनों के पक्ष सहस्रों इन्द्रधनुषी शोभाओं को लज्जित करनेवाले थे। उनकी सुन्दरता अवर्णनीय थी ! दोनों अपने मुख और ग्रीवा-प्रदेश के चंचल आलिङ्गन द्वारा परस्पर प्रेमालाप करने लगे। उनकी प्रेम-क्रीड़ा पर मुसकुराते हुए चित्रकार ने राजकुमारी को एक रहस्यमय, मर्म-भरी दृष्टि से देखा। थोड़ी देर के बाद उसने गम्भीर होकर कहा—"मैंने प्रत्येक प्राणी के हृदय-प्रान्त में प्रेम का वृन्दावन बसाया है—सृष्टि के आदि से ऐसा करता रहा हूँ, सृष्टि के अन्त तक ऐसा ही करता रहूँगा।"

"पर उस वृन्दावन में तुम्हारी रूप-कला की झाँकी कैसे हो सकती है, देव ?"—राजकुमारी ने उत्सुकतापूर्वक, पूछा ।

"मैंने साथ ही प्रत्येक हृदय में व्याकुलता की यमुनाधारा भी बहाई है; जो उसका आश्रय लेगा वह मुझे सहज ही पा सकेगा ।"—हँसते हुए चित्रकार ने कहा ।

राजकुमारी को मालूम हुआ, जैसे उसका हृदय अनन्त प्रकाश से भर गया, उस प्रकाश की आनन्द-धारा में वह संज्ञा-हीन हो गई !

४

प्रतिदिन प्रातःकाल संसार की आँख बचाकर वे उस कुञ्ज-वन में मिलते । प्रतिदिन वह राजकुमारी की प्रतीक्षा करता । राजकुमारी के आते ही उसकी चिन्ता में व्याकुल उसका (चित्रकार का) म्लान मुखमंडल खिल उठता । राजकुमारी के सुख की सीमा न थी !

वह नित्य उससे शिक्षा प्राप्त करती । वेद, दर्शन, धर्मनीति आदि सभी बातें वह उससे सीखती । पर एक बात जो उसके हृदय में थी, उसे अपने चित्रकार से वह सदा छिपाती । चित्रकार भी उससे उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता ।

उस दिन बिदा होते समय चित्रकार ने उससे प्रेमपूर्वक कहा—"कल 'महानिशा' का पाठ होगा ।"

"अन्धकार से मुझे बहुत भय लगता है ।" राजकुमारी के शब्दों में भीरुता थी ।

"भय की तो कोई बात नहीं, मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा।"—चित्रकार ने मुसकुराते हुए कहा।

"और यदि वह पाठ मैं न पढ़ूँ तो?"—राजकुमारी के स्वर में मान, प्रेम और रोष था।

"तो मेरा परिचय अधूरा रह जायगा—मुझे तुम भली भाँति न जान सकोगी। अब तक तो तुमने मेरा सृष्टि-रूप ही देखा है, अब तुम्हें मेरी विध्वंस-लीला भी देखनी होगी।"

"और यदि मैं न देखूँ—देखने के लिए न तैयार होऊँ?"

"तो मुझे खोना पड़ेगा।"

राजकुमारी एक अज्ञात आशङ्का से काँप उठी। पर अपने इस भय को उसने अपने चेहरे पर अङ्कित होने न दिया। चित्रकार की दृष्टि से अपना यह भाव छिपाने के लिए उसने मान का आश्रय लिया!

वह रूठ गई। वह मनाने लगा। वह रूठती ही गई। उसने मनाने के लिए कोई उपाय—कोई अनुनय-विनय शेष न रक्खा। पर वह शिला की भाँति अटल रही। अन्त में थोड़ी देर के बाद जब उसने मुँह फेरा तो देखा, चित्रकार का पता न था। न जाने वह कहाँ चला गया था!

उसे न पाकर वह सहसा रो उठी! अपने अहंभाव और कपट-वेश पर उसे लज्जा और ग्लानि हुई। उस समय उसे ज्ञात हुआ कि प्रेम का शुद्ध रूप सर्वभावेन निष्कपट आत्म-समर्पण ही है। पर अब क्या हो? चित्रकार चला गया था। राजकुमारी को मालूम

हुआ जैसे चित्रकार के अभाव में उसका समस्त जीवन अत्यन्त व्यथापूर्ण, अर्थहीन और नितान्त निष्प्रयोजन है ! वह रोती-रोती अपने शयनागार में चली गई। उसने अन्न-जल छोड़ दिया और निश्चय किया कि चित्रकार के दर्शन बिना वह इसी प्रकार अपने प्राण त्याग देगी ! एक दिन और एक रात इसी प्रकार बीत गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमारी के हृदय में आशा का तनिक सञ्चार हुआ। दौड़ी-दौड़ी चित्रकार से मिलने की आशा में उस कुञ्ज-वन में गई। पर वहाँ वह न था। निराशा से उसका हृदय तिलमिला उठा। रोती हुई वह बोली—"देव ! मुझ अपराधिनी को कब तक रुलाओगे; कब तक मुझे अपना दर्शन न दोगे ?"

पास से ही ध्वनि आई—"मैं तो सदा तुम्हारे पास ही हूँ !"

"फिर मेरी अपराधिनी आँखें दृष्टिपूर्ण होती हुई भी तुम्हारा रूप क्यों नहीं देख पातीं ?"—राजकुमारी का स्वर काँप रहा था !

"क्योंकि उन पर तुम्हारे अहंभाव का आवरण पड़ गया है। उस अहंभाव का, जिसका व्यवहार तुमने आत्म-गोपन के निमित्त मुझसे किया है !"

"मैं अपराधिनी हूँ स्वामी !"—राजकुमारी की घिग्घी बँध गई।

" मैं भी अपराधी हूँ प्रिये !"

"तुम तो निर्विकार, निष्कलुष हो देव !"

"वह तो निर्गुण-रूप की बात है प्रिये; सगुण-रूप में तो मुझे भी जीवन-मृत्यु और रूप-गुण धारण करना पड़ता है........."

राजकुमारी ने बात काटते हुए कहा—"तो तुमने कौन-सा अपराध किया है?"

ध्वनि आई—"तुम्हारे अपराध से मैं अपराधी और तुम्हारी महत्ता से मैं महान् हो जाता हूँ—इसलिए कि तुम मेरी अपनी हो।"

"फिर मेरे पापी प्राण कब तुम्हारा स्पन्दन पा सकेंगे और मेरा अपराधी तन कब तक तुम्हारी स्पर्श-चेतना का अनुभव कर सकेगा?"—रोती हुई राजकुमारी ने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा।

"वह तो सदा-सर्वदा होता रहता है।"—हँसती हुई ध्वनि ने कहा। फिर बोली—"क्या तुम अनुभव नहीं कर पाती कि व्याकुलता का रूप धारण कर मैं इस समय तुम्हारे प्राणों को स्पन्दित कर रहा हूँ और तुम्हारा अश्रु-जल होकर तुम्हारा आलिङ्गन कर रहा हूँ?"

"पर यह अभिनय किस लिए मेरे सर्वस्व?"—अत्यन्त खिन्नता से राजकुमारी ने पूछा।

हँसती हुई ध्वनि आई—"तुम्हारे और इस कारण अपने अपराधों के प्रायश्चित्त के लिए प्राण! तुम्हारे अहंभाव-रूपी माया से सदा के लिए तुम्हें विमुक्त करने के निमित्त!"

राजकुमारी के प्राण एक असीम आनन्द में डूब गए और वह संज्ञाहीन हो गई।

❀ ❀ ❀ ❀

संज्ञा खोते ही राजकुमारी एक विचित्र संसार में प्रवेश कर गई। वह पुतलियों का संसार था। नदी, जल, आकाश, अग्नि, वायु,

वृक्ष, पृथ्वी, वन, पर्वत आदि सभी कुछ संसार की ही भाँति; परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, नभचर पुतलियों के बने थे। राजकुमारी इन पुतलियों के संसार का दृश्य देखने लगी। उसके आश्चर्य और कौतूहल की सीमा न थी!

राजकुमारी ने देखा कि इन असंख्य पुतलियों में कुछ परस्पर सोल्लास प्रगाढ़ प्रेमालिङ्गन कर रही हैं, कुछ आपस में झगड़ भी रही हैं।

कुछ दूर आगे चलकर राजकुमारी ने देखा कि कुछ पुतलियाँ धूल को धनराशि समझकर बड़े परिश्रम से एकत्र कर रही हैं तो दूसरी, रत्नों और मोतियों को चुनकर फेंक रही हैं। कुछ पुतलियाँ रो रही थीं, दूसरी व्यर्थ प्रयत्नों और क्षणभंगुर वस्तुओं के संग्रह में आनन्दलाभ कर रही थीं। कुछ स्वयं विषपान कर उसका दोष दूसरों पर लगा रही थीं, परन्तु साथ ही बहुसंख्यक पुतलियाँ हाट में बहुत व्यस्त होकर क्रय-विक्रय कर रही थीं, फिर भी उनका मस्तिष्क इस बात का सदा अनुभव करता रहता कि दिवस का अवसान हो रहा है और घर का पथ बहुत दूर है!!

राजकुमारी ने आगे चलकर देखा कि पुतलियों के संसार का एक लँगड़ा आदमी दूसरे को अपने कन्धे पर लेकर दुर्गम गिरि-शृङ्ग को पार कर रहा है। पास ही एक दूसरा आदमी अपने सिर पर बोझ रक्खे हुए नदी पार करने के प्रयत्न में बीच धारा में डूब गया। एक तीसरा आदमी उसी नदी को सहज ही पार कर गया। कुछ दूर पर

थोड़े आदमी अपने शरीर को उपवासों के द्वारा इसलिए क्षीण कर रहे थे कि हल्के होकर वे स्वच्छन्दतापूर्वक आकाश में उड़ सकेंगे। दूसरे बड़े-बड़े बोझों के साथ विमानों पर आकाश-मार्ग में स्वेच्छा-पूर्वक विचर रहे थे।

इस प्रकार पुतलियों के देश में राजकुमारी ने देखा कि असंख्य पुतलियाँ अपने असंख्य व्यापारों में अपनेको भूली हुई थीं।

वह घूम-घूमकर इनका कौतुक देखने लगी। पूरा देख लेने पर विश्राम के निमित्त वह एक लताकुञ्ज में गई। वह ठीक उसी कुंज-वन की भाँति था, जिसमें वह अपने चित्रकार से मिला करती थी। वहाँ जाकर उसने जो दृश्य देखा उससे उसके आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा।

उसने देखा कि वहाँ उसका चित्रकार एक छोटी-सी झाड़ी में छिपकर अपने असंख्य हाथों के द्वारा इन पुतलियों के सूत्र खींच-खींच कर उनके द्वारा समस्त कौतुक का सम्पादन कर रहा है। ये पुतलियाँ उसे देख न सकती थीं।

इसके बाद दृश्य बदल गया। पलक मारते ही चित्रकार अन्तर्द्धान हो गया। पुतलियों का संसार एक बार प्रलयङ्कर भूकम्प की भाँति हिल उठा। आकाश ने भयानक घोष किया। महाप्रलय-संयुक्त झञ्झा के एक झोंके से अम्बर की छाती विदीर्ण हो गई और समस्त सौरमंडल, सारे ग्रह और नक्षत्र भयानक चीत्कार के साथ टूट-टूटकर गिरने लगे। अग्निदेव हो-हो करके रौद्र स्वर से जाग उठे

और क्षण भर में समस्त सृष्टि भस्म की ढेरी बन गई। अत्यन्त भीषण निनाद से जल की एक अनन्त शृङ्खला आई और उन भस्मपुञ्जों का तनिक भी अवशेष न रहा। इसके बाद जल, वायु, अग्नि, आकाश और पृथ्वी अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर आपस में युद्ध करने लगे और कुछ क्षण के बाद किसी का कोई भी चिह्न शेष न रहा।

राजकुमारी ने देखा, जैसे समस्त सृष्टि घोर अन्धकार का एक महापुञ्ज हो। वह भय से काँप उठी। अपने चित्रकार का स्मरण करके बोली—"इस महा अन्धकार में तुम्हारे बिना मैं कैसे ठहर सकूँगी देव?"

क्षण-भर में उसके सीमन्त-प्रदेश में एक छोटी ज्योति दीख पड़ी। उस ज्योति-बीज में उसका चित्रकार मुसकुराता हुआ दीख पड़ा। वह आत्म-समर्पण के लिए उसके चरणों का स्पर्श करने दौड़ पड़ी; पर इतने में उसकी चेतना उसे पुनः प्राप्त हो गई और उसने अपने को अपने मिलनकुञ्ज में पाया। उसका चित्रकार पास ही बैठकर उसके सीमन्त पर अपना वरद हस्त फेर रहा था! राजकुमारी को जान पड़ा जैसे वह एक भयानक स्वप्न देखकर उठी हो।

५

कुञ्ज-वन का कण-कण चित्रकार की सौरभश्री से मस्त था। रजनीगंधा के परिमल से सनी हुई वसन्त की मलय-वायु कलियों का हृदय विदीर्ण कर उसमें विरह और संयोग की असंख्य कहानियाँ

प्रतिध्वनित कर देती। रजनी दूध के असंख्य कणों की अनन्त धाराओं से स्नान कर रही थी। चित्रकार शिला पर बैठा था। राजकुमारी उसके चरणों की आश्रित थी! उसका मुखमंडल गम्भीर और म्लान था।

चित्रकार आज श्रृङ्गार-वेश में आया था, पर राजकुमारी की आँखें उस अनन्त रूप-राशि से दूर, 'महानिशा' की भयानकता देख रही थीं। जल और वायु, अग्नि और आकाश, ग्रहों और नक्षत्रों की विध्वंसलीला का रूप एक बार उसकी आँखों के सामने नाच गया! वह काँप उठी! उसके हृदय का भाव ताड़ते हुए चतुर चित्रकार ने अत्यन्त कोमल और प्रेमपूर्ण वाणी में कहा—"नव-सङ्गम की इस मधुर यामिनी में यह विषाद कैसा प्रिये?"

"मैं उस 'महानिशा' का दृश्य सह नहीं सकती देव!"—राजकुमारी की आँखों से मोती के दो दाने गिर पड़े!

दोनों थोड़ी देर तक मौन थे। अन्त में राजकुमारी ने ही शान्ति भङ्ग करते हुए पूछा—

"और अपनी इस सुन्दर कला-सृष्टि का इतना भीषण संहार क्यों करते हो मेरे सर्वस्व?"

चित्रकार हँस उठा। उस हँसी में असंख्य कामदेव की छवि लज्जित हो उठी। बोला—"वह तो संहार नहीं प्रिये, वह तो मेरी 'प्रकृति' के रूपान्तर की लीला है!"

"पर जिस लीला का अभिनय करते हुए भी तुम उससे पृथक्

रहते हो, वह तो संहार से भी अधिक दुखद है! उस विध्वंस-लीला का सूत्रपात कर जाने तुम किस आवरण में स्वयं छिप जाते हो।"

"तुम भूल करती हो प्राण, उस प्रलय-सङ्घर्ष में मैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के रूप धारण कर अपना तांडव करता हूँ और तत्वों के रूपान्तर के बाद मैं महा अन्धकार का रूप धारण कर अनन्त ब्रह्मांड के कण-कण में व्याप्त हो जाता हूँ।"

राजकुमारी का गम्भीर और म्लान मुखमंडल और भी अधिक गम्भीर और विषादपूर्ण हो गया। उसके चित्त की यह कातर-दशा देखकर चित्रकार ने दयार्द्र वाणी से कहा—"विवाह की इस मङ्गल वेला में यह म्लानता कैसी प्रिये?"

राजकुमारी थोड़ी देर तक शान्त रही। फिर बोली— "परन्तु......!"

"बोलो!"

"मैं तुम्हारी विवाहिता कैसे हो सकूँगी? तुम्हारा रूप, गुण, धर्म तो मुझसे सर्वथा भिन्न है।"—राजकुमारी का हृदय आन्तरिक व्यथा से हिल उठा!

चित्रकार का समस्त शरीर हँसते-हँसते आन्दोलित हो उठा! थोड़ी देर के बाद राजकुमारी ने खिन्न होकर कहा—

"तुम असीम और मैं सीमित हूँ।"

"मैं तुम्हें अपने साथ असीम बना लूँगा।"

"तुम अविनाशी हो और मैं नाशवान् हूँ।"

"तुम्हारा प्रेम निबाहने के लिए मैं तुम्हारे साथ जन्म और मृत्यु धारण करूँगा।"

"और 'महानिशा' की विध्वंस-लीला में जब मैं..." राजकुमारी का कंठ आन्तरिक विषाद से अवरुद्ध हो गया!

"उस समय तुम्हें महानिशा का रूप दान कर स्वयं मैं महाकाल बन तुम्हारे और अपने संयोग की मर्यादा अविच्छिन्न रक्खूँगा!"

राजकुमारी का मुखमंडल एक अद्भुत ज्योति से चमक उठा। बोली—"हे जन्म-मरण के साथी!" उसकी आँखों में आनन्दाश्रु उमड़ पड़े!

"मिलन की इस मधु-वेला में विलम्ब न करो प्रिये!" यह कह, राजकुमारी के सीमन्त-प्रदेश में सिन्दूर-दान कर, चित्रकार ने उसे सदा के लिए आलिङ्गन-बद्ध कर लिया। राजकुमारी की गति, उसका समस्त स्पन्दन रुक गया!!

* * *

प्रातःकाल समस्त राजधानी में यह समाचार विद्युत् की भाँति फैल गया कि राजकुमारी गोलोकवासिनी हो गईं!!

कुछ महीनों बाद 'मेड़तिये' सरदार रत्नसिंह जू के घर में एक कन्यारत्न पैदा हुई। बूढ़े ज्योतिषी ने घड़ी-लग्न देखकर कहा—

"सरदारों थाँका घर में ललिता सखी आई है!"

संसार ने उसे 'मीरा' का नाम दिया—उसने अपनेको 'गिरिधर नागर' की विवाहिता समझा!!

स्मृति-समाधि

वह कवि तो था नहीं; पर कलाकार अवश्य था। कला अनन्त है—अनन्त रूपोंवाली है। वे रूप आगे चलकर भले ही एक हो जायँ, पर आरम्भ में तो समुद्र में उठनेवाली तरंगों की भाँति एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं—सृष्टि-स्थिति, आरोह-अवरोह, स्पर्श-चेतना, सभी में !

परन्तु उसकी कला कुछ कम सुन्दर न थी। कवि की मानव-चेतना जिस वेदना को शब्दों का रूप देकर व्यक्त करती, उसको वह अपनी स्वर-ध्वनि का रूप देता ! सुननेवाले पागल हो जाते। लड़के, बूढ़े, युवक, सभी एक स्वर से यही कहते—"रागिनियाँ इसकी दासी हैं, कला इसकी जीवन-धारा है !"

और वह जीवन-धारा साधारण न थी ! जिस साहित्य-परिषद्, जिस धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उत्सव में उसके द्वारा मङ्गल-गान होने की सूचना मिलती, वहाँ भीड़ से लोगों की देह छिलने

लगती। निराश प्रेमियों और प्रेमोन्मत्त दम्पति-समूह के लिए तो वह मानों कल्याण बरसानेवाले देवदूत की भाँति था। उनकी विरह-वेदना, उनकी प्रणय-आकांक्षा, उनकी समस्त आकुल भावनाएँ उसके सङ्गीत में निर्विकार भाव से डूब जातीं! उसका नाम नवल था।

परन्तु वह? वह तो वसन्त-लतिकाओं की भाँति अङ्ग से कोमल, पर अपनी मर्मर-ध्वनि के रूप में स्फूर्तिदायिनी! वह कवि भी थी, कलाकार भी। कविता की वाणी, उसकी अन्तर्वेदना का रूप धारण कर उसकी शब्द-सृष्टि में छिप जाती! उसकी कविता ही उसकी कला थी! सभी पत्र-पत्रिकाओं में उसकी कविता, उसकी काव्य-प्रतिभा की धूम थी। लोग कहते—"उसकी काव्य-कला साहित्य की स्थायी और अमर सम्पत्ति है!"

पर स्वयं उसे अपनी उस कला का ज्ञान न था। हो भी कैसे? आँखें स्वयं अपनी छवि, अपना रूप किस भाँति देख सकती हैं? इसी प्रकार जो कला जीवन-प्रवाह में दूध और शक्कर की भाँति मिलकर एक हो गई है, जो कला स्वयं प्रारम्भ में जीवन की प्रेरणा बनकर अन्त में जीवन का अन्तिम विसर्जन हो जाती है, उसे कलाकार देखे भी तो किस भाँति? उसके पास अपनी कला का रूप देखने के लिए जगत् का कोई दर्पण न था। उसका नाम कल्याणी था!

पुरुषत्व ने नवल में उद्दंडता दी थी। स्त्रीत्व ने कल्याणी का जीवन सङ्कोच और लज्जा से भर दिया था। नवल—हँसता हुआ, प्रसन्न युवक, चौड़ी छाती, पुष्ट भुजाएँ, गौरवर्ण, कान्तियुक्त मुखमंडल।

कल्याणी—पतली-दुबली, लज्जावती की भाँति, श्यामवर्ण ; परन्तु उसकी दृष्टि में कितना आकर्षण, कितनी करुणा, कितना गम्भीर विषाद था—वह विषाद, जो पुरुष-हृदय को जीवन की समस्त वासनाओं से खींचकर अपनेमें केन्द्रित कर देता है !!

वह बाईस वर्ष का था—वह अठारह साल की थी। दोनो ने दोनों को बड़ी तपस्याओं के बाद पाया था ; परन्तु दोनों के मार्ग भिन्न थे। विवाह-बन्धन के पहले वह उसकी याद में रो देता; किन्तु इससे भिन्न उसकी स्मृति से वह हँस पड़ती। सम्भव है, उस हँसी में कभी मोती के कुछ टुकड़े गिर पड़े हों; पर कौन जाने ! संसार ने तो उसके स्मृति-अश्रु को देखा नहीं था !

जब वह हँसता, ऊषा की अरुणिमा खिल पड़ती ! जब वह अपनी दृष्टि किसी वस्तु पर स्थिर करती, शिशिर भी वसन्त का रूप धारण कर करुणा और आकर्षण से डूब जाता !

२

यह उनके विवाहित जीवन का पहला वसन्त था। रजनी-गन्धा के सौरभ से आन्दोलित वायु यौवन की आकांक्षाओं की भाँति उन्मादकारी थी ! वसन्त की ज्योत्स्ना में प्रणय जितना अन्धा और पागल हो सकता है, हो चुका था। आधी रात बीत चुकी थी। वह उसके बाहुपाश में आश्रित थी। दोनों अपलक नयनों से एक-दूसरे को देखकर मन्त्र-मुग्ध थे। उस समय सङ्गीत और कविता का कहीं पता न था। जब दो मानव-हृदय पति और पत्नी के रूप में मिल जाते हैं, उस समय

कला भूल जाती है और संसार विस्मृत हो जाता है ; उस समय आत्म-विसर्जन का उन्माद दोनों के अन्तर में कोई अन्य वासना रहने नहीं देता।

एक-दूसरे को देखने की प्यास अभी पूरी न हुई थी कि पासवाली अमराइयों से पपीहे ने अपने 'पी कहाँ' से उस सौरभयुक्त वातावरण को सहसा आन्दोलित कर दिया। मुसकुराती हुई उसने पूछा—"सुनते हो ?"

"सुनता हूँ !" काँपते हुए स्वर से उसने कहा।

"क्या कह रहा है ?"

"वही पुरानी कथा !" उसका संकुचित बाहुपाश और भी अधिक संकुचित हो गया।

"पर इस भाँति क्यों देख रहे हो ?" भयभीत स्वर से उसने पूछा।

"कहने न दोगी ?" रोषपूर्ण स्वर में उसने पूछा।

"नहीं।"

"न सही।"

वह रूठ गया। वह मनाने लगी। जब वह मान चुका, तो उसने मुँह बनाते हुए कहा—

"यदि मैं ऐसा पहले जानती कि तुम इस तरह रूठने वाले हो, तो तुमसे कभी विवाह करती ही नहीं !"

"हूँ !" दोनों हँसने लगे ! पपीहा पुनः बोल उठा—"पी कहाँ !"

"इस मुँहजले को न जाने क्या हो गया है !" आनन्द-विभोर हो पपीहे को कोसते हुए कल्याणी ने कहा।

"कहूँ, क्या हो गया है ?" उसे पुनः बाहुपाश में आबद्ध करते हुए नवल ने कहा। आकांक्षा के भार से उसकी आँखें दबने लगी थीं।

"कह दो।" काँपती हुई वाणी में उसने कहा।

"यही कि इसकी आकुलता मेरे हृदय में तुम्हारी अतृप्त प्यास की भाँति असीम और न मिटनेवाली है !" अपने मुँह से उसका मुँह अत्यन्त निकट करते हुए वह उसकी दृष्टि को अपनी दृष्टि से आहत करने लगा !

"रहने दो अपना मुँहदेखा प्यार।" मान भरकर उसने कहा।

"सच कहता हूँ कल्याणी...सच कहता हूँ...तुम मेरे जीवन की सङ्गीत-धारा हो।"

"फिर वही भूल ? तुम्हारे जीवन में अपना क्या है ? तुम्हारे जीवन में मेरे अतिरिक्त अपना और शेष क्या है ?" अन्तर-उल्लास से वह बोल उठी।

"हाँ, मैं भूल गया, तुम मेरे जीवन की कविता हो, कल्याणी ?"

"परन्तु..." वह आगे बोल न सकी। उसका मुँह सहसा उतर गया। वह व्याकुल होकर कहने के लिए आग्रह करने लगा। उसके आग्रह पर वह बोली—

"परन्तु, यह तो स्वप्न की भाँति दीख पड़ता है प्राण ! यह एक

भ्रामक स्वप्न की भाँति दीख पड़ता है; छोटे-से और महत्त्वहीन जीवन में सहसा इतना सुख...इतनी पूर्णता !..."

"सच्चा प्यार इतना ही सुखद, इतना ही पूर्ण होता है।" बात काटते हुए उसने कहा। "तुम नहीं जानतीं कल्याणी, कितना रो-रोकर मैंने तुम्हें पाया है !" उसकी आँखें गीली हो गई थीं।

"और मैं तुम्हारे उन आँसुओं के लिए जन्म-जन्मान्तर तुम्हारे चरणों में रो-रोकर प्रायश्चित्त करूँगी, मेरे प्राण, मेरे अशरण-शरण !" उसकी पुष्ट गर्दन में अपनी दोनों पतली और कोमल बाहें डालकर वह उससे लता की भाँति लिपट गई। उसकी वेणी शिथिल हो गई थी और उसकी केश-राशि का एक बिखरा हुआ भाग उसके पति के कपोलों पर सिमट गया था !

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरा वसन्त आया; पर न तो उसमें वह सौरभ था और न वह उन्माद ही ! वसन्त की नैसर्गिक मादकता उन दोनों के प्राणों में विष घोल रही थी !

वह रोगिणी हो गई थी। उसका कङ्काल-मात्र शेष रह गया था ! उस कङ्काल के झीने वस्त्र से उसके प्राणों की वायु इधर-उधर टकरा कर भाग जाने के प्रयत्न में थी। उसकी यह दशा देखकर वह पागलों की भाँति हो गया था।

वह प्रसन्न थी—वह दुखी था ! रोगी के जीवन-दीप पर जब मृत्यु की छाया पड़ने लगती है, तब वह दूर से ही उसे देख लेता है।

कल्याणी को भी इसका भान हो गया था, मृत्यु की पुकार उसने दूर से ही सुन ली थी; फिर भी वह प्रसन्न थी ! जीवन की छोटी नौका जब मृत्यु के विस्तृत, परन्तु अज्ञात तट पर कूच करने की तैयारी करती है, उस समय मानव-हृदय अतीत की न जाने कितनी सुखद-दुखद स्मृतियों और मधुर-कटु आकांक्षाओं से आन्दोलित हो जाता है। उस समय अतीत अपनी भूली कथाओं के हास्य-रुदन से, वर्तमान अपनी वासनाजन्य आकुलता से और भविष्य अपनी अज्ञात भयानकता से मनुष्य की अधीर विवशता को निष्ठुरता-पूर्वक हिला देता है। परन्तु कल्याणी के भाव ऐसे न थे। उसके हृदय पर मृत्यु का आतङ्क न था। नवल के प्रेम ने उसे जीवन और मृत्यु, दोनों की विवशताओं से ऊपर कर दिया था। वह प्रणय और मृत्यु की समस्याओं को निर्द्वन्द्व होकर सोच रही थी। सहसा बोली—"मृत्यु और प्रेम में अधिक शक्तिशाली कौन है प्राण ?"

वह काँप उठा ! सहसा कुछ उत्तर देने का साहस उसे न हुआ। कल्याणी का भाव ताड़ते हुए वह सामने के झरोखे से आसमान की ओर देखने लगा। चैत्र की पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश से अपनी रूप-छटा पृथ्वी को लुटा रहा था। भीनी-भीनी मलय-बयार झरोखे के द्वारा उस कमरे में भी आ रही थी, जहाँ कल्याणी रोग-शय्या पर पड़ी थी और पास ही उसकी बाँहें पकड़कर नवल बैठा था। आकाश की ओर देखता हुआ बोला—"चाँदनी रात कितनी सुन्दर दीख रही है कल्याणी !"

वह भी आकाश की ओर देखने लगी। बोली—"तुमसे भी अधिक इस संसार में किसी सुन्दरता का उदाहरण मिल सकता है, प्राण ?"

नवल हँसने लगा। कल्याणी भी हँसने लगी। कुछ देर ठहरकर बोली—"परन्तु तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया; मृत्यु और प्रेम में अधिक शक्तिशाली कौन है ?"

"तुम स्वयं मृत्यु और जीवन, विरह और प्रणय, इन सबसे ऊँची हो।" उसके होठ हँस रहे थे; उसकी अन्तरात्मा रो रही थी! कल्याणी यह बात ताड़ गई। उसकी चित्तवृत्ति को दूसरी ओर करने के लिए उसने उसे अपनी कुछ पंक्तियां गा कर सुनाने को कहा। वह तैयार हो गया। पास ही मेज पर 'दीप-शिखा' पड़ी थी। 'दीप-शिखा' कल्याणी की हाल की ही प्रकाशित कविता-पुस्तक थी।

पुस्तक को लेते हुए नवल ने कहा—"कौन-सी कविता सुनाऊँ, प्राण ?"

"तेरहवें गीत का अन्तिम भाग—'क्यों चिरन्तन पीर पाली ?' "

वह गाने लगा—

"जन्म ने जग को डुबाया मृत्यु के परिहास में जब ;
मिलन से पैदा हुआ था विरह का इतिहास यों जब ;
तुमने प्रणय का हास, मैंने विरह की थी आग पाली !
यों चिरन्तन पीर पाली !!

अग्निकण से जब लिखा था प्रेम का इतिहास तुमने ;
अश्रुकण मैंने बिछाए विरह का परिताप धोने ;
नाश के कोमल वलय में यह कहाँ की प्रीति आली ?
मैंने तुम्हारी पीर पाली !!"

उसके स्वर-कम्पन और उसके गले के अलौकिक दर्द से वह सिहर उठी। उसकी गर्दन को अपनी दोनों बाँहों से बाँधते हुए अत्यन्त कोमल और स्नेह-युक्त स्वर में उसने कहा—"जीवन की भाँति मृत्यु भी क्या यह सङ्गीत दे सकेगी, प्राण ?"

नवल की अन्तरात्मा को एक गहरी ठेस लगी। काँपते हुए स्वर से वह बोला—"ऐसी अशुभ बातें क्यों कहती हो प्राण ?"

"मैं तो पहले से ही जानती थी; मनुष्य की नगण्य सीमा में इतना असीम सुख...!" उसका मुखमंडल गम्भीर हो गया था।

इस बार उसकी चित्तवृत्ति बदलने के लिए नवल अपनी इच्छा से उसकी कविता गाने लगा—

"जन्म के लघु चित्रपट पर मृत्यु की मसि से निरन्तर ;
श्वास के सुरचाप से तुमने रचे जो चित्र सुन्दर ;
उन युगों की याद मैंने अश्रु में अपने छिपा ली !
केवल तुम्हारी पीर पाली !!

जन्म कब है माप सकता प्रणय का लघुमान तेरे?
मृत्यु कब करती समाहित विरह का वरदान तेरे?
जीवन-मरण की सन्धि में निस्पन्दता अपनी मिटा ली!
मैंने चिरन्तन पीर पाली !!"

वह रुक गया। प्यार से उसके मुँह के समीप अपना मुँह करते हुए कहा—"तुम कितनी महान् कलाकार हो कल्याणी?"

"वह हँसने लगी। तुम्हारी यह घोषणा मुझे कलाकार तो नहीं बना सकती; पर एक बात निश्चित है...।"

"वह क्या?"

"वह यही कि तुम्हारा प्रेम न तो यह छोटा जीवन माप ही सकता है और न मेरी मृत्यु उसे मिटा ही सकती है।" एक बार उसका मुखमंडल पुनः गम्भीर हो गया।

"इसीसे तो कहा कि तुम जीवन और मृत्यु, प्रणय और विरह, सबसे ऊँची हो।" मुसकराते हुए उसने कहा।

"यह तुम्हारी ममता मुझे इस रूप में देख रही है प्राण...यदि मैं सचमुच मृत्यु से ऊँची हो सकती...यदि मैं सचमुच इसी देह से तुम्हरे साथ अनन्त जीवन प्राप्त कर सकती!" उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। उसके हृदय को बोध देते हुए उसने कहा—"कल्याणी, यह जीवन कितना सुन्दर अभिनय है प्रिये!"

"इसीलिए तो यह और भी दुखद है।" उसकी मुख-रेखा म्लान हो गई! थोड़ी देर रुककर फिर बोली—"मुझे अपने मरने का दुख

नही है; मैं जानती हूँ, जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही; पर जब यह सोचती हूँ, मृत्यु मुझे तुमसे दूर कर देगी...तो...।" उसकी घिग्घी बँध गई।

"ऐसे भाव क्यों मन में लाती हो, प्रिये; तुम शीघ्र ही भली-चङ्गी हो जाओगी।" समझाते हुए और आर्त्त-स्वर से उसने कहा।

"वही तो।"

दोनों शान्त थे। दोनों एक दूसरे को देख रहे थे! थोड़ी देर के बाद अपने दोनों हाथ उसके कन्धे पर रख कल्याणी ने कहा—"मृत्यु क्या शरीर की भाँति प्रणय को भी मिटा सकती है, प्राण?"

"नहीं, कभी नहीं कल्याणी! प्रेम तो अनन्त जन्मों की साधना, अनन्त जन्मों की व्यथा और ज्वाला है!"

"यह वह ज्वाला है, जिसे मृत्यु की कटुता मिटा नहीं सकती!" उसका समर्थन करते हुए कल्याणी ने कहा। कुछ ठहरकर फिर बोली—"और मेरा यह सम्बन्ध तुमसे अनन्त जीवनों का है... मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की पत्नी हूँ!"

"तुम मेरी जन्म-जन्म की स्वामिनी हो। अनन्त जन्मों से तुमने मुझ पर करुणा और कल्याण बरसाए हैं, मेरी करुणामयी! मेरी कल्याणमयी!"

वह हँस पड़ी। पर हँसने का यह अभिनय केवल अपनी अन्तर्व्यथा को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न ही था! वह उसकी मनोव्यथा ताड़ गया। उत्सुक दृष्टि से वह उसे देखने लगा, वह भी उसे देखने लगी। उस

दृष्टि-मिलन में जीवन और मृत्यु, पति और पत्नी, प्यार और घृणा, जगत् की सारी बाधाएँ, विश्व का समस्त भेद-भाव मिट गया था !

थोड़ी देर के बाद कल्याणी ने मौन भङ्ग किया। बोली—"मेरी एक वासना शेष है !"

"वह क्या है ?" उत्सुकता-भरे स्वर में उसने पूछा।

"पूरा करोगे ?"

"तुम्हारी समस्त इच्छाएँ मैं मरकर भी पूरी करूँगा।"

"मरना तो सहज है; प्रेम की सच्ची साधना तो जीकर उसकी व्यथा सहने में है ! बोलो, पूरी करोगे ?"

"मैं तुम्हारे लिए अपनी शक्ति-भर सब-कुछ करूँगा।"

"तुम चिन्ता को न भूलना, उसे मैं तुम्हें ही सौंपकर जाऊँगी।"

चिन्ता कल्याणी की बहन थी—सहोदरा; उससे दो वर्ष छोटी।

इतने में चिन्ता ने अचानक कमरे में प्रवेश किया। कल्याणी ने उसे पास बुलाकर उसके हाथ को नवल के हाथ में रखते हुए कहा—

"यह मेरी थाती है, जिसे तुम्हें मेरी प्रेमस्मृति में आजीवन बड़े स्नेह से रखना होगा...इसे तुम भूलना मत।"

वह मौन था। उसका गला और उसकी आँखें भर आई थीं। सहसा उसका हाथ ढीला होकर नीचे गिर गया। जब चिन्ता चली गई, तो वह कल्याणी के हाथों में अपना मुँह छिपाकर रोने लगा।

वसन्त समाप्त हो गया। कल्याणी भी उसके साथ इस नश्वर

जगत् से चली गई। मनुष्य-जीवन अपनी समस्त कला, अपने समस्त वैभव और ऐश्वर्य के साथ अन्त में मृत्यु का आश्रित हो जाता है। मृत्यु जीवन की सबसे अज्ञात पहेली, सबसे अन्तिम विजय है !!

२

नवल जब शवदाह के बाद घर लौटा, तो पहले-पहल उसी कमरे में गया, जहाँ कल्याणी ने अपनी इहलीला समाप्त की थी। उसे सभी बातें स्वप्न की भाँति दीख पड़ने लगीं। कभी-कभी तो उसे दृढ़ विश्वास हो जाता कि कल्याणी मरी ही नहीं। प्रणय का आधिक्य एवं उस प्रणय का अटल विश्वास उसे मृत्यु वाले सत्य पर विचारने का अवसर ही नहीं देता।

सन्ध्या हो रही थी। नवल वहीं खड़ा-खड़ा अगर, चन्दन, गुग्गुल आदि सुगन्धित द्रव्यों के साथ देवदारु के जलने के दृश्य को देख रहा था। उसका ध्यान अचानक गङ्गा-तट पर जलनेवाली उस चिता पर गया, जिसका प्रवाह कर वह घर आया था। उस चिता के साथ उसके इस जीवन के सुख का अन्त हो गया था। उस अन्त के प्रारम्भ की बात सहसा उसे याद आई। उस समय वह कल्याणी के यश से परिचित था, पर उसे देख न सका था। कल्याणी ने भी उसका नाम सुना था, पर अभी तक साक्षात् का अवसर न हो सका था।

एक बहुत बड़ी साहित्य और सङ्गीत की सम्मिलित परिषद् में दोनों

जा रहे थे—नवल अपना सङ्गीत सुनाने, कल्याणी अपना कविता-पाठ करने। दोनों ही ट्रेन के एक ही डब्बे में सवार थे; नवल के साथ उसकी माँ थी, कल्याणी के साथ उसकी बहन। इसके अतिरिक्त दोनों के संसार में अपना कोई न था। दोनों को उस समय एक-दूसरे से बात करने का अवसर न मिला, पर सहसा उन्हें मालूम हुआ कि वे एक दूसरे की ओर आप-ही-आप खिंच गए। जन्म-जन्म के संस्कार जब एक बार जग जाते हैं, उस समय मौन की भाषा आप ही आप विस्तृत और असीम हो जाती है।

नवल उस समय कालेज की चौथी श्रेणी में था, कल्याणी स्कूल की अन्तिम कक्षा में। परिषद् के बाद दोनों ने फिर साथ ही ट्रेन की यात्रा की। अब की बार दोनों को आपस में बातें करने का पूरा अवसर मिला। नवल ने ही पहले मौन भङ्ग किया। बोला—"आपकी कविताएँ अनुपम थीं, इस अवस्था में ही आपका काव्य-कला पर पूरा अधिकार हो गया।"

सङ्कोच और लज्जा से कल्याणी ने कहा—"अजी मैं तो शब्द जोड़कर किसी प्रकार तुकबन्दियाँ कर लेती हूँ। कला का वास्तविक प्रदर्शन तो आपके सङ्गीत में था।"

नवल हँसने लगा। वह हँसी एक अबोध और सरल बालक की थी। कल्याणी भी हँसने लगी। पर उस हँसी में आनन्द-मिश्रित एक विषाद था। उस विषाद की छाया नवल के हृदय में प्रवेश कर गई!

इसके बाद दूसरा दृश्य आया। नवविवाहिता के रूप में कल्याणी नवल के यहाँ आई थी; प्रथम मिलन के ठीक दो वर्ष बाद। दुर्भाग्य से इस अवसर पर नवल की माँ न थी। एक वर्ष पहले ही वह बेचारी संसार से विदा हो चुकी थी। उसके भाग्य में बहू का सुख न था। कल्याणी के साथ चिन्ता भी नवल के घर आई थी!

पति और पत्नी के रूप में जब कल्याणी और नवल ने एक दूसरे को पहली बार देखा था, उन्हें मालूम हुआ, मानों अनन्त काल से वे एक ही हैं और सदा के लिए एक ही रहेंगे। उन्हें ज्ञात हुआ, मानों उनके बीच में पड़ी हुई जगत् की सारी भौतिकता उस धूमिल स्वप्न की स्मृति मात्र है, जो किसी क्षण मिटा दी जा सकती है।

एक सप्ताह के भीतर ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो अपने पारस्परिक प्रेम में दोनों अपनेको इस प्रकार भूल गए, जैसे उनके जीवन के बीच में जगत् की कोई स्थिति, संसार का कोई महत्त्व ही न हो। बीच-बीच में केवल चिन्ता ही उन्हें संसार की याद दिला देती! तन, मन, प्राण से वे एक हो गए थे। उन दोनों में अब कोई भेद, कोई शङ्का, कोई लज्जा, कोई सङ्कोच न था।

इतना सोचते ही नवल का ध्यान अचानक जलती हुई देवदारु की लकड़ी पर गया। सुलगती हुई लकड़ी अचानक धधक उठी। उसे मालूम हुआ, मानो उस आग के दूसरे छोर पर कल्याणी लेटी हुई है तथा उन दोनों के शरीर से एक प्रकार का प्रकाश मिलकर

उस ज्वालशिखा में अन्तर्हित हो रहा है। नवल को ज्ञात हुआ, मानो हिलती हुई वह लाल और नीली अग्नि-शिखा उन दोनों के अमर प्रेम की अमिट ज्वाला हो। वह प्रसन्न हो उठा। कल्याणी की उपस्थिति वह अपने भीतर-बाहर, सर्वत्र ही अनुभव करने लगा। इतने में चिन्ता ने उसका ध्यान भङ्ग कर दिया। आकर बोली—"रात बहुत बीत चुकी है जीजाजी, विश्राम करने चलिए।"

वह ठठाकर हँस पड़ा। बोला—"रात...और विश्राम।" फिर जोरों से हँसने लगा। चिन्ता भयभीत हो गई; फिर भी साहस-सञ्चय कर उसका हाथ पकड़ते हुए कमरे में ले गई।

कमरा उसी प्रकार सजा था, जैसा कल्याणी के जीवन-काल में सजा रहता। बिछौने पर वही चादर थी, जिस पर अभी कल ही कल्याणी सोई हुई थी। एक ओर सङ्गमरमर की एक बड़ी मेज पर कल्याणी के शृंगार के सभी सामान बहुत अच्छी तरह सजे हुए थे। सन्दल, केवड़े, गुलाब के इत्रों की बहुमूल्य शीशियाँ मेज पर कलापूर्ण ढङ्ग से रखी गई थीं। कल्याणी को इन तीन इत्रों से ही विशेष प्रेम था। मेज से लगे हुए बड़े शीशे पर जब नवल का ध्यान गया, तो दूसरी ओर दीवार पर टंगी हुई कल्याणी की 'लाइफ साइज' की तसवीर प्रतिबिम्बित हो गई! वह उसे गौर से देखने लगा।

देखते-देखते क्षण-भर के लिए वह विस्मृत-सा, खोया-सा हो गया। वह मूर्ति मानों मुसकराने लगी, ठीक उसी भांति, जिस प्रकार प्रणय-

अभिनय के पहले दिन वह मुसकरा रही थी ! नवल के हृदय की सारी कटुता और प्रसन्नता अचानक एक साथ मिल गई। उद्वेगजनक स्वर से बोला—"यह अभिनय इतना कटु क्यों......तुम कितनी निष्ठुर हो कल्याणी !"

उसे मालूम हुआ, मानों हँसती हुई कल्याणी उसके अधिक निकट आ रही हो। "कल्याणी...ओ...प्रिये..." कहते हुए वह मेज की ओर बढ़ ही रहा था कि चिन्ता ने हाथ पकड़ते हुए भयभीत स्वर से कहा—"जीजाजी !"

वह रुक गया। बोला—"तुमने भी उसे देखा, कल्याणी...नहीं, नहीं, चिन्ता ?"

"क्या देखा जीजाजी ?"

"अरे उसे...तुमने नहीं देखा, वह यहाँ आई थी, मुझसे मिलने !"

चिन्ता काँप उठी, उसका कोमल हृदय एक अन्तर्व्यथा से मसल उठा ! उसके कपोलों पर दो बूँद आँसू टपक पड़े। नवल का ध्यान उन इत्र की शीशियों पर था। उसे मालूम हुआ, मानों सन्दल का सौरभ चारों ओर से कमरे में प्रवेश कर रहा हो। विस्मृत स्वर में सहसा वह बोल उठा—देखो, वह आ रही है, अब तुम चली जाओ चिन्ता, कल्याणी थक गई है, विश्राम करना चाहती है।"

चिन्ता कातर दृष्टि से उसे देखने लगी। नवल की दशा उसके लिए असह्य हो रही थी। उसे सन्देह होने लगा—अचानक शोक के

धक्के ने उसके मस्तिष्क को... । वह आगे सोच न सकी। घबराती हुई बोली—"जीजाजी, तुम विश्राम करो, तुम्हारा चित्त ठिकाने नहीं है।"

"अरे मेरे चित्त में क्या हुआ है...मेरे चित्त की नायिका, मेरी कल्याणी तो मेरे पास ही है!" वह जोर से हँसने लगा।

काँपती हुई चिन्ता ने कहा—"ऐसी बातें न करो जीजाजी, मुझे बहुत डर लग रहा है।"

वह और भी जोर से हँसने लगा—"डरती है, तुझे मार डालूँगा—अपनी थाती को आप ही नष्ट कर दूँगा!"

"नहीं, मैं अपने लिए नहीं डरती। मुझे अपने जीवन के लिए कोई ममता अब शेष न रही...मुझे भय है कहीं तुम...।" वह आगे बोल न सकी। उसका गला भर आया था!

"सोचती हो, मैं आत्म-हत्या कर लूँगा...पगली...यह नहीं जानती, आत्म-हत्या का सौभाग्य भी मुझे न मिला। आत्महत्या कर तुझे किसपर छोड़ जाऊँगा—अपनी अमूल्य धरोहर को—कल्याणी की चिन्ता को?" वह मुसकरा रहा था; पर उसकी आँखें बरस रही थीं!

कुछ देर तक दोनों ही चुप रहे। बाद नवल ने ही शान्ति भङ्ग की। बोला—"चिन्ता, अब तुम अपने कमरे में जाकर सो रहो, रात बहुत बीत गई है। मेरा दरवाजा बन्द कर देना।"

वह चली गई, परन्तु अपने कमरे में नहीं। रात-भर वह उसके

दरवाजे के पास ही बैठी रही। वह भी कमरे में बैठा कल्याणी का चित्र देख रहा था। जीता या काल्पनिक—यह कौन जाने?

❀ ❀ ❀ ❀

दिन, रात, सप्ताह, महीने बीतने लगे। नवल अब भी उसी प्रकार कल्याणी के ध्यान में संसार से विस्मृत रहता। धीरे-धीरे उसे पूर्णतः इस बात पर विश्वास होने लगा कि कल्याणी की आत्मा उसके साथ ही है। कुछ घटनाओं ने उसके हृदय में यह विश्वास दृढ़ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह चाँदनी रात को कभी-कभी अपनी वाटिका में जाकर इस प्रकार कल्याणी की कविताएँ गाता, मानों वह उसे सुना रहा हो।

धीरे-धीरे नवल की मानसिक दशा उस सीमा तक पहुँच गई, जहाँ से सत्य और कल्पना, अकृत्रिम और कृत्रिम में भेद करना उसके लिए कठिन हो गया। कल्याणी का छायाचित्र, कल्याणी की धूमिल मूर्ति उसकी आँखों से धीरे-धीरे ओझल होने लगी और उसके स्थान में वह एक सुन्दर, सुस्पष्ट, मुसकराती हुई आकृति देखने लगा।

कभी-कभी वह आकृति दोनों हाथ जोड़कर उसका अभिवादन करती, कभी मुसकराती हुई वह उसके समीप आकर बैठ रहती। कभी उसे ऐसा भास होता, मानों कल्याणी उसके हृदय में उठनेवाले प्रश्नों का उत्तर दे रही हो।

एक दिन उसे ऐसा मालूम हुआ कि वह आकृति आई तो सही,

पर अन्य अवसरों की भाँति उसके मुँह पर मुसकराहट न थी। उस दिन उसके बाल बिखरे-से थे और उसकी आँखें सजल थीं।

"आज यह वेश क्यों कल्याणी?" नवल ने व्यथा से कहा।

"तुम जानते नहीं?" अश्रुपूर्ण, परन्तु मुसकराती आँखों से उस आकृति ने पूछा।

फिर कहने लगी—"दिन-रात इस प्रकार आकर्षण जगाकर तुम मुझे यहाँ भी—इस जीवन में भी चैन नहीं लेने देते, जब कि मैं जगत्-जीवन से दूर हूँ।"

"तुम दुखी हो कल्याणी? क्या तुम्हें भी मेरी भाँति सुख नहीं है?" अत्यन्त व्यग्रता से नवल ने पूछा।

वह आकृति मानों शून्य-दृष्टि से उसे देखने लगी। फिर अश्रुपूर्ण नेत्रों से बोली—"क्या तुम यह नहीं जानते? तुम्हारी चिन्तन-धारा से आकर्षित हो मैं रात-दिन तुम्हारे पास रहती हूँ और फिर भी तुमसे मिल नहीं सकती...तुम्हारे लोक में आ नहीं सकती! तुम जानते नहीं, तुम जानते नहीं, मृत्यु ने तुम्हारे भौतिक जगत् से मुझे निर्वासित कर दिया है!"

"परन्तु तुम तो सदा मेरे साथ ही रहती हो, मुझसे बातें करती हो। मैं सदा तुम्हारा सामीप्य अनुभव करता रहता हूँ!"

"तुम्हारे साथ रहते हुए भी मैं तुमसे बहुत दूर हूँ...तुम्हारे और मेरे मिलने का सङ्गम-स्थल हमारे बीच से हटा दिया गया है!"

"परन्तु मुझे तुम्हारा इस प्रकार साक्षात् होते हुए भी मैं इस बात पर कैसे विश्वास करूँ कि तुम मुझसे दूर हो?"

नवल को मालूम हुआ, मानों वह मूर्ति मुसकरा उठी। फिर थोड़ी देर ठहरकर बोली—"यह साक्षात् भी तो बड़ी कठिनाई से हो सकता है; अन्यथा तुम्हारी और मेरी स्थिति में कल्पनातीत भिन्नता है।"

"मैं तुम्हारी बातें समझ नहीं सकता कल्याणी!" नवल के स्वर में व्यग्रता थी।

कल्याणी की आकृति मानों थोड़ी देर तक चिन्ता में पड़ गई। फिर बोली—"हम लोग जैसे एक पर्वत की दो भिन्न-भिन्न शृङ्खलाओं पर हैं—ऐसी शृङ्खलाओं पर, जो एक-दूसरे की ओर इस प्रकार झुकी हैं कि उनकी चोटियों का अन्तर केवल कुछ ही गज है; परन्तु जिनके नीचे अतल और दुर्गम खाई है! इन चोटियों पर बैठे हम एक-दूसरे को भले ही देख लें, एक-दूसरे से भले ही वार्त्तालाप कर लें; पर हमारे बीच में मृत्यु की अगम और असीम खाई है!"

"तो क्या तुम्हारे और मेरे मिलने की कोई सन्धि-धारा न रही? क्या तुम मुझसे उस भाँति नहीं मिल सकतीं, जिस भाँति हम लोग जगत्-जीवन में मिला करते थे?" कातर स्वर से नवल ने पूछा।

उस आकृति की आँखें भर आईं। व्यग्र होकर वह बोली—"यह भी जगत्-जीवन की भाँति अनिश्चित है। हम लोग मिल भी सकते हैं, नहीं भी मिल सकते। मिलना और न मिलना हमारी

इच्छाओं पर निर्भर नहीं।" वह आकृति कुछ देर तक रुक गई। पुनः कहने लगी—"हम लोग जैसे एक असीम सागर के तट पर बैठे हुए दो पथिकों की भाँति हैं, जो नौका के अभाव में एक-दूसरे के पास जाने का असफल प्रयत्न भी नहीं कर सकते! तुम जानते हो, सागर के रूप में हम दोनों के जीवनों का अन्तर क्या है?"

"मृत्यु?"

"नहीं, मृत्यु नहीं; हमारी आकांक्षा—हमारे मोह की वासना।"

नवल को जैसे बिजली छू गई। अपनेको सँभालते हुए वह कल्याणी की आकृति की ओर बढ़ा और ज्यों ही उसे अपने आलिङ्गन-पाश में बाँधना चाहा, वह कुहरे की भाँति विलीन और अदृश्य हो गई!

४

इस प्रकार तीन साल बीत गए। नवल सदा खिन्न रहता। खिन्न रहना एक प्रकार से उसका स्वभाव बन गया था; परन्तु पहले की खिन्नता में और अब की खिन्नता में बहुत अन्तर था। पहले वह कल्याणी की मृत्यु के कारण, उसके अभाव में खिन्न रहता। उस समय उसके जीवन में कल्याणी का अभाव एक असह्य यंत्रणा था; परन्तु अब उसकी दशा इससे तत्त्वतः भिन्न थी। अब वह इसलिए खिन्न रहता कि बहुत चेष्टा करने पर भी वह कल्याणी की स्मृति अपने जीवन के चित्रपट से मिटा न सकता था! आज नवल के लिए कल्याणी का स्मृति-दंशन उसकी मृत्यु-वेदना से अधिक तीव्र, अधिक ज्वालापूर्ण था!!

एक रात को जब वह सोया हुआ था, कल्याणी स्वप्न में उसके समीप आई। उसे मालूम हुआ, मानों उसके कमरे का सारा वातावरण कल्याणी के सौरभ से जग उठा। वह बहुत प्रसन्न थी। उसे देखकर नवल ने कहा—"अब तुम सुखी जान पड़ती हो कल्याणी!" वह हँसने लगी। नवल ने फिर कहा—"और तुम्हारे चित्त में शान्ति भी है।"

"अब तुम अपनी आकांक्षाओं का आकर्षण नहीं जगाते हो; वही मेरी अशान्ति का कारण था।" मुसकराते हुए कल्याणी ने कहा।

"पर तुम्हारी स्मृति की तीक्ष्णता अब भी मुझे अशान्त किए रहती है!"

"एक ही उपाय है—करोगे!"

"कहो।"

"तुम चिन्ता से विवाह कर लो।"

वह जैसे आहत हो गया। बोलना ही चाहता था कि नींद टूट गई। देखा, ऊषा की लालिमा आकाश में फैलनेवाली है। प्रातः-कालीन वायु में उसे एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव होने लगा। इस प्रकार का अनुभव उसे विगत तीन वर्षों में न हुआ था। उसके कमरे की बगल में ही चिन्ता का कमरा था। उसके पुकारते ही चिन्ता उसके कमरे में आ गई। उसने शीघ्र ही अपने स्वप्न की बात उसे सुना दी! वह हँसने लगी। वह भी हँसने लगा। उसे हँसते देखकर चिन्ता की आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े!

कुछ महीने बीत गए। चैत की पूर्णिमा की रात थी। नवल अपनी वाटिका में टहल रहा था। चिन्ता भी उसके साथ थी। टहलते-टहलते वह एक बेंच पर बैठ गया। चिन्ता भी उसके सामने बैठ गई।

नवल ने बड़े सङ्कोच से कहा—"चिन्ता, मुझे तुमसे एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात करनी है।" चिन्ता चुपचाप उसे देख रही थी। कुछ देर के बाद उसने पुनः कहा—"चिन्ता, मैं कल्याणी का स्मृति-दंशन अधिक नहीं सह सकता......अब मैं अपनी जीवन-धारा बदल देना चाहता हूँ।" चिन्ता कुछ समझ न सकी। वह उसे देखती ही रह गई। वह फिर कहने लगा—"चिन्ता, इन तीन वर्षों में मैंने अपनी शक्ति-भर सहा और खोया है......मेरी व्यथाएँ तुम समझ नहीं सकतीं।" उसकी आँखें डबडबा गईं।

"मैं अनुमान कर सकती हूँ......आपके कष्टों का मैं अनुमान कर सकती हूँ...।" वह आगे न बोल सकी। उसके कष्टों की स्मृति से कल्याणी की अन्तर्व्यथा उसके लिए उमड़ आई।"

"चिन्ता, यदि मैं अपनी जीवन-धारा नहीं बदलूँगा, तो मैं संसार के किसी काम के योग्य न रह सकूँगा।"

"आपका कल्याण भी इसीमें है।"

"और कल्याणी की आत्मा को भी इसीसे शान्ति मिलेगी।"

चिन्ता चुप रही। वह अभी तक नवल का आशय न समझ सकी।

"चिन्ता, मेरे सामने इस समय केवल दो ही पथ हैं !"

"क्या ?"

"पहला यह कि तुम्हें जीवन में निश्चित कर इस सारी जायदाद को तुम्हारे नाम 'विल' कर मैं संसार में निकल जाऊँ।"

"किस लिए ?"

"अपने कल्याण के लिए...अपने परलोक के लिए, कल्याणी की दुखद स्मृतियों से छुटकारा पाने के लिए...।" नवल का स्वर काँप रहा था।

"मुझे यह स्वीकार नहीं है।" चिन्ता ने खिन्न होकर कहा।

"दूसरा पथ यह है कि अपना विवाह कर मैं फिर से गिरस्ती बसाऊँ और अपनी स्त्री के साथ यथाशक्ति जगत्-सेवा-सम्पादन करूँ।"

"यह बहुत अच्छा है।" प्रसन्न हो कर चिन्ता ने कहा।

"पर प्रश्न यह है, मुझसे विवाह कौन करेगी !"

"तुम्हारे जैसे सुन्दर और गुणवान पति को पाने के लिए लाखों स्त्रियाँ तरसेंगी।" हँसती हुई चिन्ता ने कहा।

"और यदि मैं तुमसे इसके लिए प्रार्थना करूँ ?" उसकी वाणी काँप रही थी।

चिन्ता ने लज्जा से सिर झुका लिया। उसके कपोल अरुण हो गए।

"बोलतीं क्यों नहीं चिन्ता ? यदि तुम नहीं बोलोगी, तो मेरे लिए पहला ही पथ स्वीकार है।"

"मैं क्या कहूँ ?" रोष दिखलाते हुए चिन्ता ने कहा।

"यही कि तुम्हें मेरा प्रस्ताव स्वीकार है ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

"फिर कौन जाने ? यह तो तुम्हारे जीवन का प्रश्न है।"

"मेरे जीवन पर अपना अधिकार ही कहाँ है ? मैं तो तुम्हारी थाती हूँ।"

"पर मैं उस थाती को अपने स्वार्थ पर वलि चढ़ाना नहीं चाहता। विवाह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और उसमें तुम्हारी इच्छा जान लेना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है।"

"मेरी अपनी इच्छा कुछ नहीं है। जिसमें तुम्हारा कल्याण है, वही मेरी इच्छा है। तुम्हारे सुख में ही मेरा सुख है।"

"औरतें कितनी टेढ़ी होती हैं—वे कुछ भी नहीं कहतीं और फिर भी सब कुछ कह देती हैं।"

"और मर्द कितने चालाक होते हैं, वे जानते भी रहते हैं, फिर भी अनजान हो जाते हैं।"

"इसीसे तो हौआ ने आदम को स्वर्ग से पृथ्वी पर गिराया था !"

"इसलिए कि आदम पूरा बैल था—तुम्हारी तरह !"

नवल हँसने लगा। चिन्ता भी हँसने लगी। आज तीन वर्षों के बाद उन दोनों के प्रथम आनन्द का सूत्रपात हुआ था !

नवल के जीवन में एक बार पुराना उत्साह फिर से आने लगा। उसकी खिन्नता धीरे-धीरे हटने लगी। वह बरबस अपना ध्यान

कल्याणी की स्मृतियों से हटाने लगा। जो-जो वस्तुएँ कल्याणी और उसके दाम्पत्य तथा प्रेम की स्मारक थीं, उन्हें वह एक-एक कर हटाने लगा। केवल दो ही वस्तुएँ शेष रह गई थीं। एक तो उसका 'लाइफ-साइज' का चित्र और दूसरी उसकी पुस्तक 'दीपशिखा'। उस चित्र को जब नवल एक आर्टिस्ट के पास भेजने लगा, तो चिन्ता ने विरोध से कहा—"इसे तुम मुझे दे दो। मैं इसे ऐसी जगह रखूँगी कि इस पर कभी तुम्हारी दृष्टि ही न जायगी।" 'दीपशिखा' का प्रश्न जरा टेढ़ा था। नवल उसे दूर भी करे तो कहाँ! उसकी तो सहस्रों प्रतियाँ देश के कोने-कोने में पड़ी थीं। कल्याणी की कविताएँ उपनिषद् के मन्त्रों की भाँति लोगों की जिह्वा पर रहतीं।

नवल और चिन्ता के विवाह में एक महीने की देर थी। नवल की प्रसन्नता के लिए चिन्ता उसे कल्याणी की स्मृति-पीड़ा से दूर रखने के लिए यथेष्ट प्रयत्न करती! उस प्रयत्न में नवल का भी पूरा सहयोग रहता; पर अभी तक दोनों केवल अपने प्रयत्न में असफल ही नहीं थे, वरन् जितना ही कल्याणी की स्मृति मिटाने का प्रयत्न किया जाता, उतनी ही वह स्मृति और भी नवल की आँखों के सामने नाचने लगती!

सन्ध्या हो चुकी थी। आकाश बादलों से घिरा था। नवल और चिन्ता बरामदे में बैठे-बैठे आकाश का दृश्य देख रहे थे। धीरे-धीरे अँधेरा होने लगा। अचानक एक बार बिजली कौंध उठी और बूँदा-बाँदी आरम्भ हो गई। थोड़ी देर बाद जोर से पानी पड़ने लगा।

चिन्ता किसी विचार में मग्न थी। उसे इतना गम्भीर देखकर नवल ने पूछा—"क्या सोच रही हो चिन्ते!"

"कुछ भी तो नहीं।" वह मुसकराने लगी।

"तुम्हारा 'कुछ भी नहीं' भी तो बहुत-कुछ होता है।" नवल भी मुसकराने लगा।

हँसती हुई चिन्ता ने कहा—"एक पुरानी बात याद आ गई थी; पर नहीं, उसे तुम न सुनो तो अच्छा।"

नवल ने और भी अधिक उत्सुकता से पूछा—"क्यों, कौन-सी बात?"

"तुम बुरा मानोगे—जानें तुम मुझे क्या समझोगे!"

"बला से—कहो भी तो।" उसके बहुत आग्रह से वह कहने लगी—"मैं सोच रही थी, इन बादलों का यह प्रकृति-पूजन कितना अच्छा है। मेरे मन में बार बार यह बात आती है, मानों वह आकाश अपनी जगत्प्रिया के वियोग में अपनी शून्यता से आप-ही-आप विह्वल होकर अजस्र आँसू बरसा रहा है......और.........।" वह सहसा रुक गई। कौतूहल से नवल ने पूछा—"और क्या कल्याणी!, नहीं-नहीं, चिन्ता!"

"और यह......परन्तु, तुम उसे जानकर क्या करोगे?"

नवल ने व्यग्र होकर कहा—"कहो चिन्ते, शीघ्र कहो, मेरी व्यग्रता बहुत बढ़ रही है।"

चिन्ता ने मुसकराते हुए कहा—"जब तुम बहन के लिए अपने

कमरे में रात-रात-भर जग कर रोते रहते थे, मैंने भी तुम्हारे लिए, तुम्हारे सुख और कल्याण के लिए, इसी प्रकार आँसू गिराए हैं।" उसकी आँखें भर आई थीं। नवल यह दृश्य सह न सका। पास ही मेज पर 'दीपशिखा' रखी हुई थी। खोलकर गाने लगा—

प्राण, जब जागा मेरा प्यार !
चलने लगा चरण धोने तब अम्बर हाथ पसार !
मेरे आँसू के जल से !!
यौवन रोता था, मैं गाती थी तेरा मधुराग,
रूप-शिखा के लव पर जागी सर्वनाश की आग;
रजनी ने तब दिया जगत को अन्धकार का भार !
मेरी आकुलता से !!

नवल आगे न गा सका। उसे मालूम हुआ, जैसे कोई उसका हृदय निकालकर उसके सामने ही मसल रहा हो। उसका गला भर आया। अपने आँसुओं के धुँधलेपन से देखा, मानों कल्याणी की मुसकराती हुई आकृति उसके सामने खड़ी हो! "कल्याणी......ओ कल्याणी!" कहते हुए वह रोने लगा!

रात के दस बजे थे। वह अपनी खुली छत पर चिन्ता के साथ बैठा था। दोनों ही भावावेश में थे। विवाह के और पन्द्रह दिन शेष रह गए थे। नवल ने एक ज्योतिर्मय नक्षत्र को दिखलाते हुए कहा—"चिन्ते, इस जीवन-निशा में तुम उस प्रकाशमान नक्षत्र की भाँति मेरी पथप्रदर्शिका हो।"

वह मुसकराने लगी। बोली—"प्राण, यह मेरे प्रति तुम्हारी ममता मुझे इस रूप में देख रही है!" नवल की अन्तरात्मा काँप उठी! उसे रोमाञ्च हो आया! दोनों शान्त थे। थोड़ी देर के बाद चिन्ता ने मौन भङ्ग करते हुए कहा—"और एक बात जानते हो!"

"क्या!" नवल ने उत्सुक दृष्टि से चिन्ता की ओर देखा।

"मेरी आकांक्षा उस चमकते हुए नक्षत्र की भाँति नहीं है!" वह हँसने लगी। फिर बोली—"मेरी आकांक्षा आकाश-गङ्गा की उन बिखरी हुई धुँधली ज्योतियों की भाँति है!" नवल और भी अधिक कौतूहल से उसे देखने लगा। चिन्ता कह रही थी—"जिसने जन्म लिया है, उसे तो मरना ही होगा; पर मैं चाहती हूँ कि मरने के बाद मैं भी उन धुंधली ज्योतियों में मिल, सदा, अनन्त काल तक, तुम्हारे लिए प्रेमाश्रु बहाती रहूँ.........उस समय मैं तुम्हारे प्रेम की आकाश-गङ्गा बन जाऊँगी—विस्तृत, अनन्त; परन्तु धूमिल, अज्ञात, दृश्य होते हुए भी अदृश्य!!"

नवल की अन्तरात्मा जड़ से हिल उठी! उसका हृदय भयानक रूप से स्पन्दित हो उठा! 'दीप-शिखा' की कविता उसे स्मरण हो आई—

यह प्रीति तो जीती रहेगी।
स्वप्न-मन्दिर के सुनहले पाहुनों-से प्राण मेरे;
व्योमसरिता के दृगों के आँसुओं के हार होंगे!
मैं मिटूँगी प्राण, पर यह प्रीति तो जीती रहेगी!!

उसका म्लान मुख देखकर चिन्ता काँप उठी। बोली—"क्या तुम्हारा चित्त ठीक नहीं है?"

वह कुछ न बोल सका। उसका समस्त उत्साह, उसकी समस्त वाणी कल्याणी की जगत्-स्मृति में मूक थी। थोड़ी देर तक यही दशा रही। बाद एक भयानक प्रतिक्रिया होने लगी। क्रोध और आवेश से वह बोल उठा—

"निष्ठुर......पापिनी...... राक्षसी।" उसकी आँखों से ज्वाला बरस रही थी! चिन्ता मानों किसी अज्ञात भय से काँप उठी! डरते हुए बोली—"क्या चित्त ठिकाने नहीं है?"

"खूब ठिकाने है....कल्याणी राक्षसी है...स्त्री है...सभी स्त्रियाँ उसकी ही तरह पाषाण-हृदय, निष्ठुर, राक्षसी होती हैं। मैं स्त्रियों से घृणा करने लगा हूँ।" आवेश में उसने काँपते हुए स्वर से कहा। उसकी आँखें प्रतिहिंसा से, प्रतिकार से जल रही थीं!

चिन्ता को मालूम हुआ, जैसे उसके पैर के नीचे से धरती खिसक गई हो। वह अपने कमरे में जाकर रोती-रोती सो गई। रात एक और दो बजे के बीच में थी। वह एक भयानक स्वप्न देख रही थी। उसे मालूम हुआ, जैसे एक पर्वत की बहुत ऊँची चोटी पर नवल उसे हाथ पकड़कर लिये जा रहा है। समस्त जगत् अन्धकार से आच्छादित है। दोनों चोटी पर पहुँच गए। वहाँ नवल अपना हाथ छुड़ाकर भाग गया। चिन्ता रोती-रोती उसे खोजने लगी!

उधर नवल का कमरा कल्याणी के सौरभ से भर उठा। उस

सौरभ को चीरते हुए कल्याणी की आकृति उसकी आँखों के सामने मुसकराती हुई खड़ी हो गई। सहसा उसके मुँह से निकल गया—"मेरे इस अपराधी जीवन से कब तक यह कटु अभिनय करती रहोगी कल्याणी ?"

"जब तक तुम अपने जीवन में आकांक्षाओं के संसार बसाते रहोगे।" हँसती हुई उस आकृति ने कहा।

"क्या तुममें वे आकांक्षाएँ नहीं हैं ?"

"नहीं।"

"तब तो तुम्हारी पद-रेखाओं का अनुसरण करना ही उचित होगा।"

कल्याणी की छायामूर्ति धीरे-धीरे दरवाजे की ओर से वापस जाने लगी। नवल भी उसके साथ हो लिया। उस समय उसके हृदय में अपनी थाती की याद न थी। कल्याणी की स्मृति-चेतना में उसकी याद डूब गई। नवल घर से बाहर निकल गया। रात बड़ी अँधेरी और भयानक थी !!!

साधुनी

उस दिन मंगलवार था—शरद-नवरात्रि का मङ्गल। भगवती विंध्यवासिनी के मन्दिर में बड़ी भीड़ थी। समस्त भारत के अच्छे-अच्छे तान्त्रिक, एक-से-एक कर्मकांडी आए थे।

गोधूली की धूमिलता अवशिष्ट न थी। रजनी के तिमिर-अङ्क में दिवस की अन्तिम प्रकाश-रेखा छिप चुकी थी। आरती के बाद भक्तों की एक मंडली एक स्वर से गा रही थी—

न मंत्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो।
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः॥
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं।
परं जाने मातः तदनुशरणं क्लेशहरणम्॥

श्रद्धा और आस्था, विश्वास और उमंग-भरे हृदयों से निकलती हुई मातृ-प्रार्थना की यह स्वर-लहरी मानों भगवती के पावन मंदिर के नैसर्गिक आध्यात्मिक वातावरण में अमृत की धारा की भाँति उमड़

चली। भक्तों और जिज्ञासुओं की भक्ति और ज्ञानपिपासा स्वतः शान्त होने लगी। लोग गा रहे थे—

विधेरज्ञानेन द्रविण विरहेणालसतया।
विधेया शक्यत्वात्तव चरणयोर्याच्युतिरभूत ॥
तदेतत्त्वंतव्य जननि सकलोद्धारिणि शिवे।
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

दर्शनार्थियों की एक टोली में कुछ मनचले लोग भी थे। वे इस मार्मिक ओजस्वी प्रार्थना की स्वर्गीय सङ्गीत-लहरी में बह गए। अपने को जब्त करना अब उनके वश की बात न थी।

उनमें से एक बोल उठा—"वाह रे शंकर प्रभु! धन्य हो, ऐसे मर्म-भरे वाक्य! यह तुम्हारी ही सामर्थ्य की बात हो सकती है।"

दूसरा कहने लगा—"वाह री माई! कितनी करुणामयी हो! शंकराचार्य-जैसे नास्तिक को भी आस्तिक बनाकर ही छोड़ा!"

तीसरा विरोध के स्वर में झुँझलाकर बोला—"अरे भाई! पाप-भरी ऐसी बातें न करो, जबान गल जायगी। भगवान् शंकर के अवतार शंकराचार्य प्रभु के विरुद्ध ऐसे अधार्मिक शब्द! छिः!"

चौथा मानों दूसरे और तीसरे का मध्यस्थ होकर कहने लगा—

"भाई, शंकर प्रभु के विरुद्ध कोई अधार्मिक शब्द कहना तो सचमुच पापपूर्ण है; परन्तु प्रसंगवश तो कहना ही पड़ेगा कि सिद्ध होने पर भी वे उस समय तक अन्धकार में ही रहे, जबतक माता ने उनपर कृपा न की।"

पाँचवें ने भगवती की मूर्त्ति की ओर इशारा करते हुए कहा—"भाई, आज तो माई की मूर्त्ति में कुछ ऐसा ओज दिख रहा है मानों शंकराचार्य प्रभु की कहानी आज पुनः चरितार्थ हो रही हो। देखो, भगवती की मूर्त्ति के सामने प्रार्थना करता हुआ साधु उस घटना की याद दिला रहा है जब मोहवश भगवती के प्रति अविश्वास पालने-वाले शंकराचार्य कुँए के पास प्यासे पड़े थे। उस समय माता ने अपनेको षोड़शी के रूप में प्रकट किया और जब उन्होंने जल की याचना की तो माता ने कहा—"रज्जु और पात्र तो पास ही है, कूप से जल भरकर पी क्यों नहीं लेते ?...... ।"

छठा जरा पाश्चात्य सभ्यता के दूषित वायुमंडल में पला था, हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी बातों की जानकारी बहुत कम रखता था ; अत्यन्त उत्सुक हो, बीच में ही बात काटते हुए, बोल उठा—"तब क्या हुआ ?"

पाँचवें ने उत्तर दिया—"हुआ क्या ? शंकर ने धीमे स्वर में कहा—"माता, शक्ति नहीं है।" इसपर षोड़शी ने उत्तर दिया—तुमने शक्ति में विश्वास ही कब किया था ?" इतने में शंकराचार्य की ज्ञानदृष्टि खुल गई; परन्तु भगवती अन्तर्धान हो चुकी थीं। इसी घटना पर शंकर प्रभु ने यह प्रार्थना की थी।

श्रोतागण की आँखें अनायास ही भर आईं। रुँधे कंठ से अचानक उनके मुँह से निकल आया—"माँ करुणामयी !! माँ करुणामयी !!"

प्रार्थना हो रही थी। दर्शक-मंडली के हृदय का सारा पाप, सारा अन्धकार मानों इस अद्भुत संगीत-प्रवाह में लय होने लगा। ऐसे तो भक्त-हृदयों के लिए विंध्यक्षेत्र की विराट व्यापकता का अनुभव आप ही आप होने लगता है, पर उसके साथ इतने मधुर रूप से गाई गई इतनी ओजस्विनी, मर्मस्पर्शी प्रार्थना! फिर क्या था! उस समय ऐसा जान पड़ने लगा मानों जगत् का सारा ऐश्वर्य, सृष्टि की सारी सत्ताएँ एक आकुल-विसर्जन के भाव से उस प्रार्थनामय वायुमंडल में विलीन होने लगी हों। हवन-द्रव्य के बढ़ते और विस्तृत होते हुए सौरभ की भाँति वह प्रार्थना निराकार-भाव से मातृ-चरणों में समर्पित होने लगी—

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा।
निरातङ्को रंको विहरति चिरंकोटि कनकैः।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदम्।
जनः को जानीते जननि जपनीयं जपविधौ॥

गानेवाली टोली में एक नवयुवती साधुनी भी थी। अत्यंत गौरवर्ण और जलता हुआ दीप्तिमान चेहरा! अवस्था उसकी तेईस-चौबीस वर्ष की होगी; पर संयमित जीवन ने उसकी तरुणाई की कान्ति को अक्षय रखा था। मालूम होता था मानों वह सोलह वर्ष की कोई ऋषि-कन्या हो। उसकी शांत, गम्भीर मुख-श्री इस बात को सूचित करती थी कि अध्यात्म की आसक्ति ने उसे संसार के प्रति पूर्णतः विरक्त कर दिया है! दीपक की भाँति जलती हुई उसकी

बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों के नीचे नीली धारियाँ उसके हृदय के व्यापक विषाद की द्योतक थीं—उस व्यापक विषाद की, जिसने उसे जगत्, यौवन और जीवन तीनों का ही मार्ग सदा से बन्द कर एक अखंड संयम की मौन समाधि में एकाग्र कर दिया था। उस विषाद में एक क्षीण प्रकाश-रेखा भी थी, जो यह बात सूचित करती थी कि उसकी भक्ति अटल और अटूट है!

विंध्याधाम में वह माईराम के नाम से प्रसिद्ध थी। प्रार्थना करते हुए माईराम ने किसी के रोने की आवाज सुनी। फिरकर देखा—एक सात वर्ष की बालिका, बगल में ही दोनों हाथ से मुँह छिपाए रो रही थी। अपने हृदय से उस बालिका के रोने का विचार दूर कर माईराम प्रार्थना करने लगी। परन्तु कुछ देर के बाद ही उसे पुनः उस बालिका की रुलाई सुन पड़ी। माईराम ने विवेक से काम लेना चाहा। किसी समय उसके सामने रोने का बहुत महत्त्व था। उसने भी वही आँसू बहाए थे; पर यह उस समय की बात थी जब वह संसार में थी। अब तो अध्यात्म-जीवन में संसार के उस रुदन और हास्य, दोनों का ही कोई मूल्य शेष न रह गया था। सचेष्ट होकर उसने विवेक के सहारे अपना ध्यान प्रार्थना में लगाया, पर प्रयास करने पर भी हृदय मान न सका। वह उस रोती हुई बालिका के लिए खिंच चुका था!

गानेवाली टोलियों की प्रार्थना समाप्त हो गई। सभी लोग अपने-अपने स्थान पर जाने लगे; पर माईराम वहीं जड़वत् खड़ी

रही। उसका हृदय न जाने कितनी विपरीत भावनाओं से आन्दोलित होने लगा। लोगों की भीड़ बढ़ती देख वह रोनेवाली बालिका मंडप के एक एकांत भाग में भगवती की मूर्त्ति के सम्मुख सिसकती हुई कुछ बुदबुदाने लगी।

थोड़ी देर के बाद उसने अपना मुँह अपने छोटे-छोटे दोनों हाथों से ढँक लिया, और रोने लगी। जितना ही वह रोना बन्द करना चाहती, उतना ही उसका मस्तक, उसके कन्धे, उसका हाथ और उसका सारा शरीर—सब अत्यन्त वेग से हिलने लगते। माईराम यह दृश्य सह न सकी।

२

बालिका ने सिर उठाकर ऊपर देखा। माईराम के स्नेहपूर्ण हाथ उसके दोनों कन्धों पर थे। इस नई ममता ने उसके क्षुब्ध हृदय को सहसा शान्त कर दिया। दोनों ही दोनों को देख रही थीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में एक ओर करुणा और दूसरी ओर असीम कृतज्ञता थी। माईराम ने उस सुन्दर और भोली बालिका को एक बार बड़े ध्यान से देखा। उसे मालूम हुआ, मानों उसके हृदय के एक कोने में बहुत यत्न और संयम से सुलाई हुई जगत्-जीवन की एक अतृप्त आकांक्षा जग रही हो। उसका सारा शरीर अनायास ही सिहर उठा और बहुत प्रयत्नशील होने पर भी वह एक बार वायु से आन्दोलित पत्ते की भाँति काँप उठी। कारण, उस बालिका की आँखें, उसके कपोल, उसकी नाक तथा उसके मस्तक किसी 'ऐसे' की याद दिलाते

थे, जिसकी चिंता अब उसे जगत् की ओर खींचती थी और इस कारण पापपूर्ण थी। अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ पथिक के लिए जगत् का आकर्षण मधुर, परन्तु भयानक विष है!

"क्यों रोती हो बेटी?" अपने हृदय को दृढ़ कर माईराम ने पूछा।

"माँ के लिए।" डबडबाई आँखों और रुँधे कंठ से बालिका ने कहा।

"तुम्हारी माँ कहाँ रहती है?"

"बनारस में।"

"बनारस में किस जगह?"

"नहीं मालूम।"

कुछ देर तक दोनों चुप थीं। माईराम उस बालिका की माँ की बात सोच रही थी। उसके मन में उसकी माँ के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार उठ रहे थे, पर किसी से चित्त न भरता था। उसके सम्मुख वह सात साल की सुन्दर बालिका एक रहस्य के रूप में थी, एक ऐसा रहस्य जिसका उद्घाटन यदि असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य जान पड़ा। इतने में बालिका उसकी विचार-शृङ्खला को भग्न करती हुई बोली—

"तुम कौन हो?"

"मैं साधुनी हूँ।"

"साधुनी तो भीख माँगती हैं।"

"हाँ, मैं भी भीख माँग लेती हूँ; क्या तुम कुछ दोगी?" माईराम

ने मुसकराते हुए पूछा। बालिका शून्य दृष्टि से माईराम की ओर देखने लगी। उसे मालूम हुआ कि उस बालिका की दृष्टि में कातर विवशता भरी है। माईराम को जान पड़ा जैसे उस बालिका की वे भोली आँखें कहती हों—"मेरे पास क्या है.......दुख के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या ?"

इतने में उसका हृदय दया से पिघल गया और उस बालिका के प्रति एक अज्ञात सहानुभूति से उसकी आँखें भर आईं। बालिका ने एक बार उसकी ओर तीक्ष्ण नेत्रों से देखा। माईराम को ज्ञात हुआ, मानों वह उसके हृदयगत भावों को सहज ही देख रही हो। बोलने का बहाना करते हुए उसने बालिका से पूछा—"क्या सोच रही हो बेटी ?"

"सोच रही हूँ, तुम कितनी अच्छी साधुनी हो······और···।" बालिका चुप हो गई।

"और क्या ?"

"और यह कि तुम ही मेरी माँ हो जातीं······क्योंकि तुम भी मेरी माँ की ही भाँति अच्छी मालूम होती हो ·····और यदि यह भी न होता तो तुम्हारी भाँति मेरी माँ भी मुझे यहीं ·····अभी ही मिल जाती।" बालिका का कंठ भर आया और वह आगे कुछ भी न कह सकी।

माईराम की आँखें डबडबा गईं। उसके हृदय में एक आँधी चलने लगी, पर वह चुपचाप शांत थी। सोच रही थी—सात साल के इस मुट्ठी-भर हाड़ और चाम में भगवान ने कितनी चातुरी, कितनी

प्रतिभा और कितनी सुन्दर कला भर दी है। इतने में बालिका पुनः बोल उठी—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"लोग माईराम कहते हैं—और तुम्हारा?"

"मालती!"

"कितना सुन्दर नाम है—तुम्हारी ही तरह......"

"सचमुच?"

"सचमुच।"

"मेरी माँ भी इसी प्रकार कहती थी, इसी से कहती हूँ, तुम भी मेरी माँ की तरह अच्छी हो। तुम्हारे भी क्या मेरी ऐसी कोई मालती है?"

"नहीं!" मुसकराते हुए माईराम ने उत्तर दिया, फिर भी उसके हृदय में एक टीस-सी लगी और उसकी आँखें भर आईं!

"नहीं क्यों?" आश्चर्य से मालती ने पूछा।

"साधुनी के लड़की नहीं होती।"

"तो क्या उसके लड़का होता है?" अत्यन्त सरलता से मालती ने पूछा।

"नहीं, साधुनी के लड़का-लड़की, घरद्वार, भाई-बन्धु, कोई भी नहीं होता।"

"साधुनी का ब्याह भी नहीं होता?" बालिका की आँखें भोली थीं।

"नहीं!"

"उसके माँ-बाप भी नहीं होते ?"

"नहीं !"

"तब वह कहाँ रहती है ?"

"आज यहाँ, कल वहाँ, वह सदा घूमती रहती है।"

बालिका सोचने लगी। थोड़ी देर के बाद बोली—"फिर वह खाती कहाँ से है ?"

"भीख माँगकर।"

बालिका कुछ देर के लिए चिन्ता में पड़ गई। फिर बोली—"यदि तुम्हारे घर नहीं तो अपने खिलौने और गुड़ियाँ कहाँ रखती हो ?"

"साधुनी खिलौने और गुड़ियाँ भी नहीं रखती।"

"मोटर और रेलगाड़ी भी नहीं ?"

"नहीं !'

"लड़नेवाले मुर्गे और जिमनास्टिक करनेवाले खिलाड़ी भी नहीं ?"

"नहीं !"

"और ताजमहलवाली बीबी भी नहीं ?"

"नहीं !"

माईराम का यह उत्तर पाकर बालिका का मुँह सहसा उतर आया। सहसा यह परिवर्तन देखकर उसने बालिका से पूछा—"उदास क्यों हो गई मालती ?"

"इसलिए कि मैं तुम्हें अपने सभी खिलौने देना चाहती थी। तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो साधुनी!"

माईराम का हृदय भर आया। उसके हृदय में मातृत्व की अजस्र धारा बह चली। बड़े मीठे शब्दों में उसने पूछा—"मालती, तुमने अभी कहा था कि मेरी माँ बनारस में हैं!"

"हाँ!"

"बनारस में वे क्या करती हैं?"

"बीमार हैं—उन्हें सोने की बीमारी हो गई है!"

माईराम इसका आशय कुछ भी न समझ सकी। उसने उत्सुकता-पूर्वक पूछा—"क्या उन्हें नींद नहीं आती?'

"सो बात नहीं है। आज से दो साल पहले वे बिलकुल अच्छी थीं। एक दिन अचानक वे सोती ही रह गईं। मैंने उन्हें बहुत जगाया, पर उनकी नींद न खुली। उस दिन बहुत लोग मेरे घर जमा हुए थे। वे उन्हें बाँस की सीढ़ी में बाँधकर ले गए। मैं भी माँ के साथ जाने को तैयार हुई, पर बाबूजी ने कहा—तुम्हारी माँ को सोने की बीमारी हो गई है। वे दवा के लिए बनारस जा रही हैं और चङ्गी होकर शीघ्र ही यहाँ लौट आवेंगी......।"

मालती की ये बातें सुनकर माईराम चौंक उठी! उसके रोंगटे खड़े हो गए और उसने मालती को छाती से लगा लिया। बात काटते हुए बोली—"यदि तुम मेरी बेटी होतीं!"

"परन्तु तुम तो साधुनी हो!"

बोलने की चेष्टा करने पर भी माईराम कुछ बोल न सकी। उसकी आँखें उमड़ पड़ीं। क्षण-भर के लिए वह आत्मविस्मृत होकर जगत् के मोह-बन्धन में फँस गई। अपनेको शान्त करके बोली—

"यदि तुम मेरी बेटी होतीं तो आज मैं साधुनी नहीं रहती।" कहने के लिए तो कह गई, पर पीछे उसे ध्यान आया, जगत् का यह चिन्तन पापमूलक है। सहसा वह चली जाने को तैयार हो गई। वह इस बालिका से दूर, बहुत दूर भाग जाना चाहती थी—उस बालिका से जो अनायास ही, अज्ञात रूप से उसे जगत् के बन्धन में बाँध देती थी—उस बालिका से जिसका मुखमंडल उसके लिए अपने जगत्-जीवन के सबसे सुखद, परन्तु साथ ही सबसे दुःखद, अध्याय का स्मारक था! इतने में मालती ने पूछा—"तुम रो रही हो साधुनी?"

"नहीं तो!" माईराम ने धीरज बँधानेवाले शब्दों में कहते हुए पूछा—"तुम कहां रहती हो?"

"बस, इसी पासवाली धर्मशाला में ठहरी हूँ!"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"बसन्तपुर। वह बहुज दूर है, आरा-जिला में है।"

माईराम को मालूम हुआ मानों उसके रग-रग, नस-नस में बिजली दौड़ गई हो, परन्तु फिर भी शंका निर्मूल करने के लिए पूछा—"तुम्हारे साथ और कौन कौन है?"

"मेरे बाबूजी और दो नौकर।"

माईराम ने ऊपर से मुसकराते हुए पूछा—"तुम्हारे बाबूजी का नाम ?"

"मदनमोहन उपाध्याय।"

माईराम को मालूम हुआ, मानों उसका अन्तर्जगत् किसी घातक आक्रमण से तिलमिला उठा। संसार के अतीत जीवन की यह सबसे सुखद, परन्तु साथ ही सबसे दुखद स्मृति-चेतना उसे एक साथ ही सहस्र वृश्चिक-दंशन की भाँति प्रतीत होने लगी और वह प्रायः चेतना खोनेवाली ही थी, यदि मालती ने उसे इसी बीच में यह कहकर सावधान न कर दिया होता—"तुम किस तरह देख रही हो साधुनी ? क्या तुम बीमार हो ?"

इतने में किसी ने कुछ दूर पर जोर से पुकारा—"मालती ! ओ मालती !"

३

अष्टभुजी को जानेवाली सड़क पर माईराम वेग से जा रही थी। उसका मन त्रस्त, उसका हृदय शंकित और उसकी आत्मा अत्यन्त खिन्न थी। छ वर्ष के सन्यास-जीवन के प्रबल संयम और घोर तपस्या से उसने जिन दुर्दमनीय वासनाओं को दबा रखा था, वे आज अनायास ही उबल पड़ीं। संन्यास-आश्रम में जीवन और यौवन की अव्यक्त आकांक्षाएँ !! उसके अन्तःकरण में एक प्रबल संघर्ष चल रहा था ! उसकी आत्मा कहती थी—"इस अनित्य जीवन में सत्य ही केवल अमर और अविनाशी है ! उस सत्य का सब से सुन्दर रूप

हरिचरणों में सर्वाङ्गीन भाव से आत्म-समर्पण कर देना ही है। यही शेष रह जायगा, अन्यथा सभी मिट जायँगे—जगत्...जीवन ...यौवन... ! जगत्—सूखते हुए ओस-बिन्दु की भाँति, प्रभु की लीलाओं का क्षण-भंगुर अभिनय ; जीवन—कमल-पत्र पर लुढ़कते हुए जल-बिन्दु से भी अधिक चञ्चल ; यौवन—मिटनेवाले बुलबुलों की विनाश-कथा !!:"

उधर पञ्चमहाभूतों के बने हुए हाड़ और मांस की पुकार थी— "कितने मधुर ये स्वप्न, कितनी मोहक थीं आशाएँ...छ वर्ष, पूरे छ वर्ष के बाद उनके दर्शन...उनका रूप और यौवन कितना निखर गया है...उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं....अपनी परित्यक्ता पत्नी को पहचाना ही नहीं !" माईराम आगे सोच न सकी ! उसका सिर घूमने लगा। आगे बढ़ना उसके लिए कठिन हो गया। पास ही एक शिलाखंड पर बैठ गई। चारों ओर चाँदनी फैल रही थी, पर माईराम को जान पड़ा, मानों उसका स्पर्श अग्नि से भी अधिक दाहक है। वनप्रांत के उस एकान्त-प्रदेश में वन्य कुसुमों के उस सौरभ-भार से लदी हुई ठंडी हवा ने उसकी उद्विग्न विचारधारा में और भी गति दे दी। संन्यास के दृढ़ बन्धन की चेतना धीरे-धीरे विस्मृत होने लगी और उसके स्थान पर अतीत के दाम्पत्य जीवन का क्षीण, परन्तु मधुर उन्माद मानस-चक्षु के सामने प्रकट होने लगा। एक ओर माईराम का संन्यास-रूप विस्मृति के महाशून्य क्षितिज में डूब रहा था, दूसरी ओर माधवी का पत्नीत्व अपने सारे आलोक से उद्भासित हो

रहा था। मन की रङ्गभूमि पर जीवन-नाटक के आठ वर्षों का आवरण एक साथ ही उठ गया। यह नया दृश्य कितना आकर्षक था—कितना सुन्दर, कितना मोहक !!

आठ वर्ष पहले की बात—सौरभ के मद से झूमते हुए वे निराले दिन ; मान और प्रणय से छुईमुई खेलनेवाली वे पागल रातें !! उस समय माईराम माधवी देवी के रूप में पहले-पहल ससुराल में आई थी—रूप और यौवन के भार से दबी हुई ; रति और सती की भाँति। पतिदेव भी कामदेव की भाँति सुन्दर थे ; विद्या, बुद्धि, धन आदि सभी बातों में अच्छे। उनकी अवस्था ठीक बीस वर्ष की थी—चौड़ी छाती, पुष्ट भुजाएँ, बड़ी आँखें और भव्य ललाट ! कितने सुन्दर, कितने मधुर !! वे माधवी से चार वर्ष बड़े थे।

इसके बाद प्रथम मिलन का दृश्य आया। हृदय में मिलन और आत्मसमर्पण की उत्कंठा रहते हुए भी माधवी लज्जा और संकोच से इतनी दबी जा रही थी कि पतिदेव के घंटों मनाने पर भी अपना घूँघट न खोल सकी। पर अन्त में जब घूँघट खुला और पतिदेव की आँखों में आँखें मिलीं तो वहीं गड़ गईं। माधवी को पति के अद्भुत सौंदर्य ने स्तम्भित कर दिया और जब पति मदनमोहन उपाध्याय ने अपने प्राणों की प्राण कहकर उसका आलिङ्गन किया उस समय उसका हृदय एक अनिर्वचनीय आलोक से जगमगा गया। उस समय उसे मालूम हुआ कि पत्नी का हृदय आत्म-विसर्जन का वह सिद्धपीठ है जो पति-प्रेम का स्पर्श पाते ही स्वयं जल उठता है—जाग उठता है !!

माधवी उस सुख को सह न सकी। उसने अपना मुँह पति की गोद में छिपा लिया। इसके बाद पति ने उसके सिर की साड़ी हटा वेणी का चुम्बन कर लिया। उस आनन्द में आत्म-विभोर हो माधवी ने अपने दोनों हाथों से पतिदेव के दोनों चरण पकड़ लिये। आत्म-विसर्जन का यह प्रथम अभ्यास, सब से पहला अवसर था—सुखद, उन्मत्त, मर्मस्पर्शी !!!

इस घटना के एक सप्ताह बाद ही एक दिन मान की बारी आई। माधवी रूठ गई। पति ने मनाना आरम्भ किया। बड़ी प्रार्थनाएँ, बड़ी मिन्नतें होने लगीं। स्वामी ने कहा—

"ओ रूठनेवाली ! मान जाओ, मैं तुम्हें प्राणों के गीत सुनाऊँगा।"

"ऊँ...हूँ !"

"ओ मान करनेवाली ! मान जाओ, मैं तुम्हें आत्मविसर्जन की बातें कहूँगा !"

"ऊँ...हूँ !"

"ओ मुझे पागल बनानेवाली ! मान जाओ, मैं तुम्हें अपने हृदय का हाहाकार दिखाऊँगा।"

"ऊँ....हूँ !"

"अपने स्वामी को कष्ट देनेवाली अपराधिनी, मैं तुम्हें आजीवन कठोर कारावास देता हूँ।" यह कहकर पति ने माधवी को अपने

बाहुपाश में दबा लिया। वह हँस उठी। आँखें तानते और मुँह बनाते हुए बोली—"तुम हार गए न?"

"हार गया।"

"अब न कहना कि मैं हारनेवाली हूँ।"

'नहीं कहूँगा।'

"अब न कहना कि औरतें ऐसी होती हैं, वैसी होती हैं।"

"नहीं कहूँगा, सरकार!"

एक वर्ष इसी प्रकार सुख से कटा। इसके बाद माधवी के दाम्पत्य-जीवन का व्योम सहसा मेघाच्छन्न हो गया। उसके और उसके पति के जीवन में एक दूसरी स्त्री ने प्रवेश किया और कुछ ही दिनों में वह स्वामी की सब कुछ बन बैठी। माधवी ने बहुत सहा, बहुत रोई, पर इसका कोई परिणाम न निकला। निराश हो उसे आत्महत्या का निर्णय करना पड़ा और वह भी उस समय जब एक दिन स्वामी ने घृणा और क्रोध से कहा—"मेरे पथ में काँटा न बनो माधवी, मैं तुमसे तङ्ग आ गया हूँ।"

आधी रात से कुछ बेला ढल गई थी। पतिदेव अपने आनन्द में व्यस्त थे। इधर माधवी पति को अन्तिम पत्र लिख रही थी। उसमें उसने लिखा था—"मैं आपके पथ में काँटा बनना नहीं चाहती। मैं उसी पथ का अनुसरण करने जा रही हूँ, जो पत्नी को अपने स्वामी के चरणों से बहिष्कृत होकर करना चाहिए। सीता को अग्निदेव ने शरण दी थी, मेरे लिए गङ्गा की छाती खुली है। मेरा विश्वास है,

मेरे बलिदान पर आपकी आँखें खुलेंगी। उस समय आप कदाचित् मेरे लिए चिन्तित हों, मेरी खोज करें, मेरे लिए आपको कष्ट हो। पर उस समय मैं आपके चरणों से बहुत दूर मा-भागीरथी की शान्तिदायिनी गोद में जगत्-जीवन की अन्तिम नींद में सोती रहूँगी! यह स्वप्न मधुर है, कटु भी; पर क्या करूँ। मेरे लिए दूसरा कौन उपाय शेष रह गया है! श्रीचरणों को अन्तिम प्रणाम!

—परित्यक्ता 'माधवी'

मकान के ठीक नीचे गङ्गा बह रही थी। बहुत ऊँचे से किसी वस्तु के गिरने का शब्द हुआ। पतिदेव को इसकी कोई खबर न थी। वे आमोद-प्रमोद में डूबे हुए थे।

प्रातःकाल नौकरानी ने जागकर जब उन्हें माधवी के घर में न होने की सूचना दी तो उनकी आँखें खुलीं। दौड़े-दौड़े उसके कमरे में गए। सारी वस्तुएँ उसी प्रकार रखी हुई थीं, पर माधवी न थी। उसके टेबल पर उसका लिखा हुआ पत्र सुरक्षित पड़ा था। उन्होंने उसे लेकर पढ़ा। उनके पैरों के नीचे से धरती खिसक गई। उन्होंने उसकी बहुत खोज की, पर सब व्यर्थ। माधवी न मिली।

संसार विस्तृत है, पर गङ्गा की छाती उससे कहीं विस्तृत, कहीं उदार है। कारण, संसार जीनेवालों का आश्रय है, गङ्गा मरनेवालों की शरण!

पर माधवी इस सिद्धान्त का अपवाद प्रमाणित हुई। कारण, गङ्गा ने उसे उस अवसर पर शरण न दी। प्रातःकाल जब उसे

चेतना हुई तो उसने अपनेको वन-प्रान्त की एक कुटिया में पाया। पास ही एक बूढ़े परन्तु हृष्टपुष्ट सौम्यमूर्त्ति साधु बैठे मुस्करा रहे थे। दवा के प्रभाव के अतिरिक्त वन-प्रान्त की भीनी सुगन्ध से भरी हुई प्रातःकालीन वायु के स्पर्श ने माधवी की खोई हुई शक्ति और चेष्टाओं में एक बार उत्तेजना दी। उसके मुँह से सहसा निकल गया—

"क्या यह स्वप्न है ?"

"मनुष्य-जीवन तो एक स्वप्न ही है बेटी !" पास बैठे हुए स्थितप्रज्ञ साधु ने हँसते हुए कहा।

"दुःख के समय मृत्यु ने भी साथ नहीं दिया !" उच्छ्वास भरे शब्दों में माधवी ने कहा।

"मृत्यु बुलाने से नहीं आती बेटी ! वह अपने समय पर आती है।"

"पर यह कितना कठोर है पिता !" माधवी की आँखें गीली थीं। साधु का तेजोमय मुखमंडल माधवी की अन्तर्व्यथा से सहसा कुछ देर के लिए खिन्न हो गया। पीछे शान्त मुद्रा से बोले—"माँ भगवती तुम्हें शान्ति देगी। बेटी, वह अनन्त करुणामयी है—जगत् की माता है।"

कुछ दिनों में ही माधवी पूर्णतः स्वस्थ हो गई; शरीर और मन दोनों से ही। पिता योगानन्द स्वामी के आश्रम के पवित्र वातावरण ने उसके सन्तप्त हृदय में एक अनुभूत शान्ति दी। बाबा योगानन्द एक स्थितप्रज्ञ, आप्तकाम, पहुँचे हुए आत्मदर्शी सन्त थे। योगाभ्यास

के अतिरिक्त शेष समय ग्रामीणों की धार्मिक जाग्रति और सामाजिक सुधार तथा रोगियों की दवा-दारू में बिताते थे। निष्काम सेवा उनका सबसे बड़ा अस्त्र था। उनका आश्रम रोगियों को अपने घर से भी अधिक प्रिय था।

माधवी ने थोड़े दिनों में ही अपनेको आश्रम के अनुकूल कर लिया। भजन और सेवा में वह इतनी व्यस्त रहती कि थोड़े दिनों में ही अपनेको भूल गई। उचित अवसर पर पिता योगानन्द स्वामी ने उसे दीक्षा दी और उस समय से वह माधवी से माईराम हो गई। आसपास के गाँववाले सचमुच ही उसके मातृत्व के कायल थे। आश्रम के निकटवर्ती गाँवों में जहाँ भी प्लेग, शीतला, विसूचिका का प्रकोप होता, माईराम वहीं उपस्थित रहती।

इस प्रकार आश्रम की सारी दिनचर्या माईराम के मानसचक्षु के सामने बारी-बारी से आने लगी। इतने में एक दिन का दृश्य आ गया। माईराम की अनवरत सेवा और अथक साधना से मुग्ध होकर पिता योगानन्द स्वामी ने कहा—"तू उस जन्म की भी मेरी बेटी है।"

"मैं अनेक जन्मों की आपकी बेटी हूँ।" सरल हँसी से माईराम ने कहा। बूढ़े संन्यासी का हृदय भर आया। जगत् के हर्ष और विषाद से विरक्त उस निस्पृह सन्त की आँखें, उस दिन, माईराम के रूप में जगत् की उस करुणा और व्यथा की अद्भुत मूर्त्ति के लिए पहले-पहल डबडबा गईं। उसके पहले किसी ने पिता योगानन्द स्वामी की स्नेहमयी, दयामयी आँखों में आँसू नहीं देखे थे।

उसके बाद दृश्य बदल गया। कल्पना की छाया में माईराम को मालूम पड़ा, मानों उसके स्वामी उसके चरणों पर गिरकर अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना कर रहे हैं। यह दृश्य उसके लिए असह्य हो गया। वह रो-रोकर कहने लगी—"मैं जगत् की नहीं हूँ........मैं साधुनी हूँ, अब मैं गृहबन्धन में कैसे आ सकती हूँ!"

"परन्तु एक बार स्वामिनी, एक बार—केवल एक बार अपने इस अपराधी पति को क्षमा-दान दे दो।"

माईराम को मालूम हुआ, मानों उसके माधवी-रूप के पति काँपते हुए स्वर में इस प्रकार प्रार्थना कर रहे हों। कल्पना के इस दृश्य को वह सह न सकी। उसे मालूम हुआ, मानों उसकी बुद्धि और चेतना दोनों ही पूर्णतः नष्ट हो जायँगी। इतने में गुरुदेव के चरणों का ध्यान आया। उसी क्षण अपने मस्तक पर किसी का स्पर्श पाकर वह चौंक उठी। आँखें खोलने पर देखा, गुरु भगवान् परमहंस योगानन्द स्वामी कह रहे थे—"भगवती तुम्हारा कल्याण करें, बड़ी देर हुई बेटी!"

"बड़ी देर हुई पिता!" उठकर कहते हुए माईराम ने गुरु-चरण-स्पर्श किए। उसके मस्तिष्क और हृदय से समस्त विकार दूर हो गए थे।

गुरुदेव आगे-आगे थे और उनके पीछे माईराम आश्रम को जा रही थी।

चौथे दिन संध्या-समय परमहंस योगानन्द स्वामी आश्रम के

अस्पताल में एक रोगी की नाड़ी-परीक्षा कर रहे थे। माईराम पास ही एक हाथ में दवा की शीशी और दूसरे हाथ में प्याली लिए खड़ी थी। परमहंस प्रभु कुछ कहनेवाले ही थे कि बाहर से आए हुए एक स्वयंसेवक ने विनीत भाव से उन्हें प्रणाम कर कहा—"हैजे से बीमार एक और रोगी आया है प्रभु!"

"अस्पताल में उनका प्रबन्ध कर दो।" गंभीर मुद्रा से परमहंस प्रभु ने कहा।

"परन्तु.........।"

"क्या?"

"वह परदेशी है, आरा जिला के किसी बसन्तपुर गाँव का रहनेवाला है।"

...........स्वयंसेवक कुछ कहनेवाला ही था कि बीच में परमहंस प्रभु ने बातें काटते हुए कहा—"उसके साथ और भी कोई है?"

"छः-सात साल की उसकी एक लड़की और दो नौकर।"

"उन तीनों का भी प्रबन्ध आश्रम में कर दो।"

इतने में किसी वस्तु के गिरने का शब्द हुआ। स्वयंसेवक ने देखा, माईराम के हाथ की दवा वाली शीशी पृथ्वी पर गिरकर चकनाचूर हो गई थी; परन्तु शीघ्र ही स्वयंसेवक ने उधर से ध्यान हटाकर कहा—"यही तो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह लड़की बड़ी जिद्दी है और रोगी को छोड़ना नहीं चाहती।"

"इसका भार मुझ पर छोड़ दो और तुम रोगी का सारा प्रबन्ध अस्पताल में कर दो।" माईराम ने गम्भीर वाणी में कहा।

* * * *

तीन घंटे बाद सभी रोगियों के निरीक्षण तथा दवादारू का प्रबन्ध करके माईराम मालती के साथ आश्रम के अपने कमरे में बैठी थी। बात के सिलसिले में मालती ने कहा—"उसके बाद तुम मन्दिर में नहीं आईं साधुनी, कल और परसों मैं बड़ी देर तक तुम्हारी बाट देखती रही।"

"सचमुच!"

"सचमुच!"

"तुम क्यों मेरी बाट देखती रहीं?"

"मैं तुम्हारे लिए मिठाइयाँ और फल लाई थी। उस दिन जब तुम चली गईं तो धर्मशाला में पहुँचने पर मेरे बाबूजी ने मुझसे पूछा—"तुम्हें यह साधुनी कहाँ मिली मालती?" "मन्दिर में" मैंने कहा। तब उन्होंने पूछा—"यह कहाँ रहती है, तुम जानती हो?"

उत्सुकता से माईराम ने पूछा—"तब तुमने क्या उत्तर दिया?"

"मैं क्या उत्तर देती? मैं क्या जानती थी कि तुम कहाँ रहती हो? मैंने तो कह दिया—भीख माँगती है, आज यहाँ, कल वहाँ, घूमती फिरती है। मुझे तो तुमने ऐसा ही बतलाया था साधुनी!"

बालिका के इस भोले उत्तर पर माईराम अपनी हँसी रोक न सकी; यद्यपि इस हँसी के नीचे उसके हृदय में न जाने कितनी

अशान्ति, कितना विषाद भरा था। वह कुछ कहनेवाली ही थी कि बीच में मालती ने मौन-भङ्ग करते हुए पूछा—

"कहो, मैं तुम्हें क्या दिखाना चाहती हूँ, बूझो तो ?"

"मैं कुछ भी नहीं बूझ पाती।" माईराम ने मुस्कराते हुए कहा।

इस पर मालती ने अपने पिता के ट्रङ्क से एक छोटी तस्वीर निकाली और उसे छिपाते हुए कहा—

"बूझ जाओ, मैं तुम्हें क्या दिखाना चाहती हूँ ?"

"मैं नहीं बूझ पाती !"

"अच्छा, कहो, मैं तुम्हें किसकी तस्वीर दिखाना चाहती हूँ।"

"अपनी।"

"नहीं।"

"तब अपनी माँ की।"

"नहीं, तुम नहीं बूझ सकीं; अपनी बड़ी माँ की !"

कौतूहल और भय से माईराम का हृदय धड़कने लगा; परन्तु मालती कह रही थी—"यह मेरी बड़ी माँ है, अब यह नहीं है, मर गई है। बाबूजी नित्य पूजा के समय इस तस्वीर को सामने रखकर इसके लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं और कहते हैं—"ऐसा करने से तुम्हारी बड़ी माँ को स्वर्ग में शांति मिलेगी।"

तस्वीर की ओर संकेत करते हुए मालती ने फिर कहा—"देखो साधुनी, इसका मुँह ठीक तुम्हारी ही तरह है। मालूम होता है, तुम इनकी बड़ी बहन हो। लेकिन तुम तो रोती हो साधुनी ?"

"नहीं तो !" माईराम ने बनावटी हँसी से कहा।

"अच्छा, बूझो तो सही इनका नाम क्या था ?" मालती ने हँसते हुए पूछा। माईराम हृदय मसोस कर रह गई। कुछ समझ में नहीं आया, क्या करे। काँपते हुए स्वर में कहा—"मैं कुछ भी नहीं बूझ पाती मालती !" उसकी वाणी में अकथ व्यथा थी।

"इनका नाम श्रीमती माधवी देवी था।" सरल हँसी और भोले मुख से बालिका ने कहा। माईराम की शून्य दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करते हुए उसने पुनः कहा—"अच्छा, एक बात बूझो साधुनी, उस रात को बाबूजी क्या कहते थे—उसी रात को जिस रात को तुम मुझसे मन्दिर में मिली थीं ?"

"क्या कहते थे ?" माईराम का मुखमंडल पीला और उसकी आँखें आभाहीन हो गईं।

"कहते थे, मेरी बड़ी माँ स्वर्ग की देवी थीं, ऐसी देवियाँ संसार में कभी-कभी आती हैं।" यह कहते-कहते उनकी आँखों से आँसू बहने लगे और उस रात को उन्होंने कुछ भी भोजन नहीं किया।

माईराम एक हल्की चीख से अपना सिर पकड़े हुए अपने मृग-चर्म पर लेट गई। उसके सिर में भयानक पीड़ा थी।

* * * *
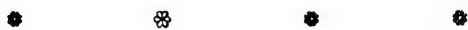
उस दिन ही रात के दो बजे रोगी मरणासन्न पड़ा था। उसके बचने की कोई आशा न थी। परमहंस पास ही बगल में बैठे अन्तिम उपचार कर रहे थे। पास ही मोमबत्ती हाथ में लिए हुए गम्भीर मुद्रा से

माईराम खड़ी थी। रोगी की आँखें धस गई थीं, होंठ काले पड़ गए थे, मुखमंडल भयानक और वीभत्स हो गया था। धीमे स्वर में उसने पुकारा—"मालती! ओ मालती!"

"वह इस समय सो रही है।" परमहंस प्रभु ने कहा।

"अन्तिम बार उससे मिलना चाहता हूँ प्रभु!" धीमे और निराश स्वर में रोगी ने प्रार्थना की।

"ऐसा न कहो बेटा!" परमहंस प्रभु ने ढाढ़स बँधाते हुए कहा। मालती को बुलाने के लिए एक स्वयंसेवक आश्रम भेजा गया।

सन्तोष-भरी दृष्टि से रोगी ने धीमे स्वर में कहा—"नाम तो बहुत सुना था, पर क्या मालूम था कि जीवन के अन्त समय में आपके चरणों के इस प्रकार दर्शन का सौभाग्य मिलेगा। और वह भी विन्ध्यक्षेत्र में—माता की लीलाभूमि में!"

माईराम के हाथ की मोमबत्ती काँप उठी।

थोड़ी देर के बाद बल प्राप्त कर रोगी ने कहा—"एक बड़ा भारी बोझ लेकर मरता हूँ प्रभु!......वह स्वर्ग की देवी थी.........मेरे अपराधों के कारण ही उसे आत्महत्या करनी पड़ी.........मैं हत्यारा हूँ......उसका हत्यारा पति.........मेरी माधवी......!"

कुछ देर ठहर कर पुनः बोला—"यदि वह जीवित रहती तो उसके चरणों में गिरकर क्षमा माँगता और यदि वह क्षमा न करती तो मैं वहीं, उन्हीं चरणों में, अपने प्राण खो देता.........आत्म-सन्ताप है, प्रभु..........आत्म-सन्ताप की बड़ी तीक्ष्ण व्यथा है।"

"ॐ.............हूँ...........हूँ..........." एक भयानक चीख से माईराम पृथ्वी पर गिरकर अचेत हो गई। घंटों बाद होश आने पर देखा, गुरु भगवान्, परमहंस प्रभु उसके मस्तक पर हाथ रखकर 'सप्तशती' के मंत्र जप रहे थे। दूसरी ओर रोगी पड़ा हुआ था। उसकी गति अवरुद्ध हो गई थी और उसका स्पन्दन सदा के लिए रुक गया था। उसकी निर्जीव आँखें शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देख रही थीं। मालूम होता था, उस शून्यता में जगत् की कितनी आकांक्षाएँ, कितने विषाद, एक साथ ही समाहित हों।

दूसरे दिन दोपहर को जब मालती ने माईराम से अपने पिता का समाचार पूछा तो उसने बड़े मधुर शब्दों में कहा—"उन्हें तुम्हारी माँ को दिखाने लोग बनारस ले गए हैं, बेटी।"—यह कहते हुए उसकी आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़े।

पूर्व-जन्म की ब्याही

बालकपन में जब बूढ़ी दादी प्रत्येक रात को सुलाने के समय नये-नये राजा और नई-नई रानी की कहानी सुनाती, और इन कहानियों की रानियों के विषय में यह सुनता कि अमुक रानी ने अमुक राजा पर मोहित होकर उससे विवाह कर लिया, तो मेरे मन में स्वभावतः यह बात उठती—यदि मैं कोई राजा होता तो कोई रानी मुझ पर भी मोहित होकर मुझसे विवाह कर लेती।

यह मैं मानता हूँ कि उस समय न तो मुझे मोहित होने का ही अर्थ मालूम था और न विवाह का महत्त्व ही; पर कल्पना की दौड़ के लिए यही क्या कम था—बहुत-से हाथी-घोड़े, बड़े-बड़े महल, बड़ी-बड़ी सेना और पैर दाबनेवाली दसों महारानियाँ! केवल एक ही बात इस स्वर्ण-स्वप्न में बाधक होती—वह यह कि मैं बहुत कुरूप था। बालपन से आज तक मेरा विश्वास है कि मैं बहुत

कुरूप हूँ, और यह विश्वास मेरी आत्मा में इस प्रकार प्रवेश कर चुका है कि संसार की कोई भी शक्ति इसे हिला नहीं सकती।

तारुण्य और यौवन के आकांक्षाभरे संगम पर जब घरवालों ने मेरे विवाह की तैयारी की, उस समय न तो मुझे राजा बनने का ही वहम था, न रानियों से विवाह करने का नशा। इसके विपरीत मैं चाहता था कि किसी प्रकार मेरा विवाह न हो। कारण, उस समय मैं 'विवाह' और 'मोहित होना' दोनों का ही अर्थ समझने लगा था, और मुझे सदा इस बात का भय बना रहता कि मेरे ऐसे कुरूप आदमी की स्त्री कहीं दुर्भाग्य के अभिशाप से अत्यंत सुन्दरी न निकले। उस समय उसकी निराशा की कल्पना कर मैं अन्यमनस्क हो जाता। विवाह के पहले ही मुझे अपनी भावी पत्नी के लिए कम ममता न थी!

बहुत प्रयत्न करने पर भी मेरा विवाह न टला। मैंने लाख बहाने किए। पढ़ने की बातें कीं, योरप जाने की बातें कीं, छोटे-मोटे और भी बहुत-से बहाने किए, पर परिणाम कुछ भी न निकला। मैं दूल्हा बनकर ही रहा। मेरी पत्नी मेरे घर में आई। काँपते हुए हृदय और निराशा-भरे मस्तिष्क से मैं उससे मिला। वह अद्भुत सुन्दरी थी! मेरा सिर चकराने लगा और मेरे पैर के नीचे की धरती खिसकने लगी। पर धीरे-धीरे मेरी आशंका निर्मूल हो गई। मैं अपनी स्त्री के प्रेम में पूर्णतः सफल था। उस दिन तो मेरे हर्ष की सीमा न रही जब प्रथम मिलन के ठीक एक सप्ताह बाद ही बात के सिलसिले

में उन्होंने कहा—"तुम्हें मैं संसार में सबसे अधिक जानती हूँ। मेरे लिए संसार में तुम ही एक पुरुष हो—तुम मेरे देवता हो, मेरे भगवान् हो!" कृतज्ञता के बोझ से दबकर मैंने भी कहा—"तुम ही मेरा एकमात्र अवलंब हो, मेरी प्राण, मेरी सर्वस्व!!"

मैं समझता हूँ, संसार में सबसे कुरूप होते हुए भी मैं सबसे सुखी पति हूँ। मेरी पत्नी में रूप है, गुण है, शील है, संतोष है; पर इन सब गुणों से परे मेरे सुख का प्रधान कारण यह है कि मैं उनका सर्वस्व हूँ। उनके प्रेम की समस्त कल्पना मुझमें ही केन्द्रीभूत है। मैं भी उन्हें कम प्यार नहीं करता, परन्तु उनके और मेरे प्यार में अंतर है। उनकी भाँति मेरा हृदय उतना सरल, अबोध और निर्मल नहीं है। इसमें एक छोटा, परन्तु अमिट दाग पड़ गया है। इसी प्रकार उनकी भाँति मेरा प्रेम निर्विकार नहीं है। शुद्ध और निस्पृह होते हुए भी उसपर एक विषादमयी स्मृति का भार है। इसीलिए न तो इसमें वह शक्ति ही है और न वह उत्तेजना ही। फिर भी मैं अपनी पत्नी को अपने से अधिक प्यार करता हूँ और यह जानकर वे फूली नहीं समातीं।

मेरा जीवन घटनाओं का एक विश्व है। वे घटनाएँ एक से एक बढ़कर अनूठी हैं—निराली, ओजमयी, चमत्कारपूर्ण, आश्चर्य-जनक, कौतूहलवाली, व्यंग्यपूर्ण, उपहासास्पद, विषादपूर्ण और हर्षोत्पादक!! परन्तु जिस घटना की मेरे जीवन पर अमिट छाप पड़ी है, उसका सूत्रपात सन् १६२७ ई० में हुआ था—आज से बरसों

पहले। उस समय मैं छब्बीस वर्ष का था। मुझे विवाहित हुए आठ वर्ष हो गए थे और मैं दो बच्चों का बाप बन चुका था। परन्तु इसका अन्त? कौन जाने कब हुआ, कब होगा, होगा भी अथवा नहीं—कारण, वे सभी बातें आज भी आँखों के सामने उसी रूप में नाच रही हैं! उनमें तनिक भी परिवर्तन, थोड़ी भी धूमिलता नहीं आई! उसकी स्नेहमयी, करुणापूर्ण मूर्त्ति आज भी बादल की भाँति बरसती हुई आकर कह देती है—"मैं तुम्हारी पूर्व-जन्म की ब्याही हूँ।" उस समय मैं शून्य दृष्टि से उसे देखने लगता हूँ; परन्तु वह वायु की भाँति विस्तृत और व्यापक हो जाती है, क्षितिज की भाँति मेरे जीवन के आकाश और जगत् को एक कर देती है। ईश्वर की भाँति अपनी निराकार व्यापकता में आप ही आप विद्युत् की तरह लुप्त हो जाती है!!!

वह सन् १९२७ ई० के जून का महीना था। पुलिस-ट्रेनिंग-कालेज से परीक्षा पास कर मैं नया-नया दारोगा बना था। अचानक मेरी स्त्री अपने मैके में बहुत बीमार हो गई और उसके बचने की कोई आशा न रही।

यह समाचार पाते ही मैंने एक महीने की छुट्टी ली और दौड़ा-दौड़ा ससुराल चला गया। ससुराल में पत्नी की जो हालत देखी तो होश उड़ गए। सारा संसार भूलकर मैं उसकी सेवा-सुश्रूषा में लग गया। रात-दिन प्रायः अठारह घंटे उसीके पास बैठा रहता। उसे स्वयं अपने हाथों दवाएँ देता। उसका ऐसा विश्वास है कि

मेरे हाथ से दवाएँ पाकर वह एक बार मृत्यु के मुख से भी जीवित बच सकती है।

ससुरालवालों ने मेरे वहाँ पहुँचने के पहले दवा-दारू, सेवा-शुश्रूषा में किसी प्रकार की कमी न की; मेरे वहाँ जाने पर वे हर प्रकार से मुस्तैद रहते; परन्तु उनका मेरी स्त्री के पास अधिक रहना, उसे और मुझे, दोनों को ही पसन्द न था। कारण, मेरी स्त्री अपने मैके में सबसे छोटी थी और इस लिए गुरुजनों का हमारे बीच में रहना, हमारी स्वतन्त्रता में बाधक था। उस समय न तो मेरी स्त्री मुझसे अपने हृदय की बात खुलकर कह सकती और न मैं ही उन लोगों के सामने पूरे उत्साह के साथ उसकी हर तरह से सेवा कर सकता था। हमलोग देहात के रहनेवाले थे। हमें नगरों की स्वतन्त्रता अज्ञात थी। हमारी नीति और मर्यादा नगरों से सर्वथा भिन्न थी। ससुरालवाले इस बात को समझ गए और हमें स्वतन्त्र छोड़ दिया। फल यह हुआ कि मेरी स्त्री पन्द्रह दिनों में ही नीरोग हो गई। अब केवल दुर्बलता ही शेष थी।

ये दिन स्वर्गीय सुख से कटे। प्रेम की भीनी-भीनी मीठी-मीठी बातें, इतने दिन न आने के जले-कटे उलाहने, इनके अतिरिक्त न जाने कितनी अशेष बातें। घंटों मेरे हाथों को अपने दोनों हाथों में रखकर वह अपलक नयनों से मुझे देखा करती—मैं भी ऐसा ही करता। आँखों की इस नीरव भाषा में कितना प्रेम, कितनी तन्मयता, कितना आत्म-संवेदन था। हमलोग उस समय पूर्णतः

अकेले थे; संसार के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद से दूर—बहुत दूर।

हाँ, इस एकान्त को प्रतिदिन दो-चार घंटों के लिए एक तरुणी भङ्ग कर देती! वह मेरी स्त्री की दूर की बहन थी। परन्तु वह अपने से भी अधिक निकट थी। मेरी स्त्री की उस पर बहुत ममता थी। उसकी अवस्था लगभग चौदह वर्ष की होगी। नाम था गोपअली। उसके पिता गाँव के सबसे निर्धन व्यक्ति थे। गोपअली को शायद दोनों जून ठीक तरह से अन्न नहीं मिलता, परन्तु इस पर भी उसका रूप देखकर यह विश्वास करना असम्भव हो जाता था कि वह पंचमहाभूतों की सृष्टि है। पहले-पहल जब मैंने उसे देखा, मुझे मालूम हुआ, वह कोई दुर्लभ, कल्पनातीत देवबाला हो—अग्नि और वाष्प से निर्मित, जो मनुष्य की पापजन्य सृष्टि से विद्युत् की भाँति अदृश्य हो जाय!! मेरी इस कहानी की यही नायिका है—कपोल-कल्पित नहीं, कवि की कल्पना के प्रमाद-रूप में नहीं—व्यवहार-जगत् के सीधे-सादे, नपे-तुले शब्दों में।

गोपअली प्रतिदिन आती, मेरी स्त्री की हर प्रकार से सेवा करती। इतना ही नहीं, जब तक रहती, हम दोनों का मनोरंजन भी करती रहती; कहना इस प्रकार उपयुक्त होगा कि हमलोग उसकी प्रतीक्षा में प्रतिदिन हैरान हो जाते। जानते थे, घर के काम-काज से छुट्टी पाकर ठीक समय पर आवेगी। वह आती भी वैसे ही, नियमित रूप से, ठीक समय पर; पर उसके आने की प्रतीक्षा का समय शीघ्र नहीं

कटता। एक दिन ज्योंहीं वह आई, उसे चिढ़ाने के लिए मेरी स्त्री ने कहा—"क्यों री गोप, तुम्हारे जीजाजी तुम्हारे वियोग में बेचैन रहते हैं और तू इन पर तरस भी नहीं खाती, आने में इतनी देर लगा देती है।"

वह चट बोल उठी—"क्यों न कहोगी जीजी, फूलों की सेज पर तुम डटी रहो और ये बेचारे नौकर की तरह तुम्हारे पैर सहलाते रहें; परन्तु ठठोलियाँ सहने के लिए गोपअली...... ।"

अभी वह बोल ही रही थी कि बीच में बात काटकर मैंने कहा—'क्यों री गोप, मैं तेरी जीजी का नौकर हूँ? यह नहीं जानती, मैं तेरे कुल का पूज्य हूँ, तुम्हारी जीजी के विवाह के अवसर पर तुम्हारे बड़ों ने मेरे पैर पूजे थे।"

"जब पूजे होंगे, तब होंगे। अब तो तुम नौकर क्या, जीजी के खरीदे हुए गुलाम हो—उनके पैर चाटनेवाले हो।" मुँह मटकाते हुए उसने कहा। इसके बाद वह मेरे निकट आई और अपने दोनों हाथों से मेरे दोनों कान पकड़, आँखें नचाती हुई, और मुँह बनाती हुई कहने लगी—"जीजी जब इसी तरह तुम्हारे दोनों कान पकड़ कर उठने को कहती हैं, उठ जाते हो, बैठने को कहती हैं, बैठ जाते हो।"

उस दिन मेरी दोनों सरहजें और कुछ सखियाँ भी मौजूद थीं। गोपअली के इस अभिनय पर ठठाकर हँस पड़ीं। मैं अच्छा बेवकूफ बना। किसे मालूम था, ससुराल में एक चौदह साल की छोकरी,

छब्बीस वर्ष के ग्रेजुएट पुलिस-सब-इन्स्पेक्टर को इस प्रकार मूर्ख बनाकर छोड़ेगी, पर हो ही क्या सकता था !

२

मेरी स्त्री पूर्णतः स्वस्थ और नीरोग हो गई। मेरी छुट्टी के भी केवल पाँच दिन ही शेष थे। मैं आम खा रहा था, पास ही मेरी स्त्री और मेरी दोनों सरहजें बैठी थीं। गाँव-घर की कुछ सखियाँ भी थीं। हम सभी गोपअली की प्रतीक्षा में थे। उसके आने का समय हो गया था। अचानक गोपअली आई और जीजाजी के नारे लगने आरम्भ हो गए। मैंने समझ लिया, वह आ गई। कमरे में उसके प्रवेश करते ही एक साली ने चुटकी लेते हुए कहा—"देखो न, गोपअली के आते ही जीजाजी के चेहरे का रंग वसन्त की तरह खिल गया।"

इस आक्रमण का उत्तर गोपअली ने अपनी स्वाभाविक चतुराई से देते हुए कहा—"वाह रे मेरे भाग्य, जिस वसन्त को इतनी कोयलें न खिला सकीं, उसे मेरे चरणरज ने खिला दिया !"

उनमें एक गोपअली की भाँति हाजिरजवाब थी। नाम उसका शीला था। बोली—"नहीं गोप, पपीहे के 'पी-कहाँ' की आवश्यकता थी।"

"तो तुमने उसकी पूर्ति क्यों न कर दी ?" गोपअली ने आड़े हाथ लेते हुए कहा। "कैसे करती गोप, उस कमी की पूर्ति तो तुम ही कर सकती थीं। तुम्हें देखते ही जीजाजी की बाँछें खिल जाती हैं।" लजाती हुई शीला ने उत्तर दिया।

गोपअली ने अब की बार ऐसा चुभता हुआ उत्तर दिया कि बेचारी शीला लजाती हुई कोने में छिप गई। बोली—"देखो न, जब से अपने दूल्हे के घर से आई है, कितना बहस करने लग गई है। मालूम होता है, अबकी बार इसके दूल्हे ने इसे वकालत पढ़ा कर भेजा है!"

सारी मंडली हँसते-हँसते लोट गई। गोपअली की इस छोटी-सी अवस्था में इतनी तीव्र बुद्धि देखकर मैं दङ्ग रह गया। सोचने लगा—हाय, भगवान् ने इसके विकास का साधन नहीं दिया ; इस विस्तृत संसार के घने अंधकार में कितनी गोपअलियाँ विकास-रश्मि के अभाव में खिलने के पहले ही मुर्झा जाती हैं। यह बात सोचते ही मैंने उसके स्वर्गदुर्लभ रूप को एक बार ध्यान से देखा। तारुण्य के स्पर्श ने उसे अलौकिक बना दिया था। मेरे मन में अनायास ही यह विचार उठने लगा—क्या चित्रकार और कवि की कल्पना इस अलौकिक रूप की भाँति ऊँचा उठ सकती है? सौंदर्य और चित्रकला, दोनों ही की मुझे थोड़ी-बहुत जानकारी है। संसार में जितने अपूर्व रमणी-रूप मैंने देखे हैं, उनमें एक भी गोपअली के चरणों तक नहीं पहुँच सकता था। अमर योरपीय चित्रकार रैफल से लेकर आधुनिक सभी भारतीय और योरपीय चित्रकारों की सुन्दर कृतियों के देखने का मुझे अवसर मिला है। दाँते (Dante) की प्रणयोन्मत्त कल्पना 'वियात्री' का रूप-लावण्य मैंने भिन्न-भिन्न योरपीय चित्रकारों की कवि-कल्पना में देखा है, परन्तु इनमें सब चित्र

गोपअली के सामने प्रायः नगण्य और निर्जीव हो जाते हैं। संसार के बहुत-से उलझे हुए मस्तिष्क चित्रकला के लिए पागल हैं। मैं तो समझता हूँ, यदि इनके सामने गोपअली का चित्र सचमुच हाड़ और मांस के रूप में रख दिया जाय तो संसार को न तो चित्रकार की ही आवश्यकता रहे और न चित्रकला की ही।

मैं आम खाता जा रहा था और मेरे मन में ये विचार उठ रहे थे। इतने में गोपअली ने मेरी स्त्री से कहा—"क्यों जीजी, आम खाने का आनन्द तो बागीचे में चलकर हर पेड़ का एक-एक ताजा आम खाने में है।"

एक दूसरी साली ने, जिसका नाम बिन्नी था, कहा—"आम खाने का असली आनन्द तो तब है जब गोपअली एक-एक आम अपने हाथ से तोड़कर जीजाजी के हाथों में देती जाय और वे खाते रहें।"

सभी हँसने लगीं। पर गोपअली ने कहा—"तो इसमें हर्ज ही क्या है!" शीला को मौका मिल गया। बोली—"कुछ नहीं गोप, राधा आगे-आगे चलती रहेंगी, कृष्ण पीछे-पीछे चलते रहेंगे; राधा आम तोड़ती रहेंगी, कृष्ण खाते रहेंगे......।" अभी शीला समाप्त भी न कर सकी थी कि गोपअली ने बात काटते हुए कहा—"और तुम सब गोपियाँ दूर से देखकर जलती रहोगी।" बेचारी शीला पुनः निरुत्तर हो गई, परन्तु बिन्नी ने कहा—"नहीं, गोप! हम सब राधा की छवि का वर्णन करती रहेंगी।" कुछ देर इस प्रकार बहस होने पर सभी अपने-अपने घर चली गईं॥

दूसरे दिन सन्ध्या के समय पाँच बजे पास के एक गाँव से लौटा आ रहा था। रास्ते में गोपअली का बागीचा मिला। वह बेचारी आम की रखवाली कर रही थी। उसके साथ उसकी एक छोटी बहन और एक छोटा भाई भी था।

मुझे देखकर उसने पास बुलाया और आम खाने का आग्रह किया। आम खाने की इच्छा तो न थी, पर जब उसने बड़े खिन्न और करुण शब्दों में कहा—"हाँ, जीजाजी, दरिद्रों के आम तुम क्यों खाओगे।" उस समय मेरे हृदय में एक चोट-सी लगी और आम खाने के अतिरिक्त मेरे लिए अन्य कोई उपाय न था।

आम खा लेने पर जब मैं जाने को तैयार हुआ तो उसने मुझे रोक कर कहा—"जरा ठहरो, तुमसे कुछ बातें करनी हैं।" कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से उसे देखते हुए रुक गया। बोला, कहो, कोई नाटक तो नहीं करना है?

"हाँ, नाटक ही करना है, पर क्या तुम उस नाटक को समझ सकोगे?"

"यत्न करूँगा, पर समझना और न समझना नाटक करनेवालों के हिस्से में है।" मेरा उत्तर सुनकर वह हँसने लगी। बोली—"ठहरो, नाटक की तैयारी कर लूँ।" इसके बाद उसने अपने भाई और बहन को आम चुनने के बहाने बागीचे के दूसरे छोर पर भेज दिया और बड़ी गम्भीरता से मुझसे कहने लगी—"जीजाजी, तुम कब जाओगे?"

मैंने उसका इतना गम्भीर मुख कभी नहीं देखा था। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। उत्तर देते हुए मैंने कहा—"परसों प्रातःकाल।"

"परसों ही? कुछ दिन और नहीं ठहरोगे?" उसके स्वर में कम्पन था।

"परन्तु मेरी छुट्टी तो पूरी हो गई।"

"और छुट्टी क्यों नहीं ले लेते?"

"ऐसा करना कुछ कठिन है; तुम जानती हो, सरकारी नौकरी का मामला है।"

"यह तो मैं समझती हूँ, लेकिन ... ... परमात्मा न करे ऐसा हो, परन्तु यदि जीजी की तबीयत और खराब हो जाती तब तो तुम्हें छुट्टी लेनी ही पड़ती।" मुझे उस समय समझ में न आया कि क्या उत्तर दूँ, पर अपनेको उस कठिनाई से टालने के लिए कहा—"हाँ, उस समय तो विवशता हो जाती।"

"और मेरे लिए यह विवशता नहीं है! अब समझी, तुम मुँह के ही मीठे हो! जीजी का सौवाँ हिस्सा भी मुझे नहीं जानते!"

अभी तक मैंने गोपअली की बातों की गंभीरता नहीं समझी थी, इसलिए सरल भाव से कहा—"छिः, ऐसा क्यों कहती हो गोपअली, तुम भी मेरे लिए उतनी ही प्रिय हो। देहाती कहावत तुम नहीं जानतीं "बेटी सारे गाँव की, जमाई सारे गाँव का।"

"सच कहते हो, मैं तुम्हें जीजी के बराबर ही प्रिय हूँ?"

"झूठ क्यों बोलूँगा? क्या मैंने किसी की हत्या की है?"

"सो सब मैं नहीं जानती, तुम कहो—सच कहते हो ?"

"सच कहता हूँ।"

"मेरी शपथ कहो, सच कहते हो ?"

"तुम्हारी शपथ, सच कहता हूँ।"

"तो तुम मेरे लिए कुछ दिन और रह जाओ।"

"तुम्हारा कोई काम हो तो रह जाऊँ अथवा यदि तुम भी बीमार हो जाओ तो रह जाऊँ।" सरल हास्य से मैंने कहा।

"मैं बीमार हूँ, जीजाजी, मैं बहुत बीमार हूँ ; तुम नहीं जानते, मैं बहुत बीमार हूँ।" उसके स्वर में तीव्र वेदना थी।

"तुम्हें कौन-सा रोग है ?" आश्चर्य से मैंने पूछा।

"क्या तुम नहीं जानते ? जानकर भी तुम अनजान ही बन रहे हो ? जानते हुए भी तुम मेरे रोग की ओषधि क्यों नहीं करते ?" आँखों में आँसू भरकर मेरा हाथ पकड़ते हुए उसने कहा।

मैंने अब उसकी अधीरता का अर्थ समझा। हाथ छुड़ाते हुए कहा—"होश में बातें करो गोपअली, तुम्हें यह क्या हो गया है ?"

"मुझे होश अब कहाँ रह गया है ? जिस दिन से पहले-पहल तुम्हें देखा था, उसी समय से.........।" कुछ देर ठहर कर फिर बोली—"मेरे उस असाध्य रोग की एक ही औषधि है....वह तुम हो।" उसकी आँखों में आँसू और चेहरे पर व्याकुलता थी।

"पागल लड़की, तुम उस रोग को क्या जानो ? अभी तो तुम्हारे

खाने-खेलने के दिन हैं। अभी तुम कितने दिन की हुई?" मेरे स्वर में रोषपूर्ण सहानुभूति थी।

"पर यह रोग अवस्था पाकर नहीं आता। इसका तो जन्म-जन्म के संस्कारों से आप ही आप उदय हो जाता है।" उसकी ध्वनि में नाद की अन्तर्वेदना थी।

"मालूम होता है, तू बड़ी तपस्विनी बन गई है; आज ही जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को समझ गई!" रोष-भरे व्यंग्य-मिश्रित स्वर से मैंने कहा।

"परन्तु इतना पढ़कर भी तुम नहीं जानते जीजाजी कि जब पूर्व-जन्म के संस्कार उदित होते हैं, तब तपस्या की परवा नहीं करते, वे भूत की तरह सिर पर सवार होकर बोलने लगते हैं। तुम क्या जानो, मेरी क्या दशा है? उस दिन से तुम्हारी सूरत बिसरती नहीं। दिन पर दिन आँखों के सामने नाचते रहते हो; रात को सपने में साथ ही रहते हो!" भर्राई आवाज से उसने कहा। उसका मुख-मंडल उसकी अन्तर्व्यथा का द्योतक था।

"यह तो मोह है गोपअली, प्रमाद है; मोह और प्रमाद दुःख के कारण होते हैं।" सान्त्वना-भरे शब्दों में मैंने कहा।

"मैं जानती हूँ, मोह और प्रमाद दुःख के कारण होते हैं; पर प्रेम से भी तो दुःख ही होता है। क्या राधा के हृदय में कृष्ण के लिए प्रेम न था? यदि था, तो उन्हें दुःख क्यों हुआ?"

उसके इन शब्दों ने मुझे सहसा निरुत्तर कर दिया। उस समय

मुझे मालूम हुआ कि गोपअली सचमुच जन्म-जन्म के अनेक संस्कारों से युक्त कोई तपस्याच्युत देवबाला हो। वह थी भी ऐसी ही; अन्यथा चौदह वर्ष की अर्धशिक्षिता देहाती लड़की को मोह और प्रमाद, जन्म-गत संस्कार तथा प्रेम-तत्त्व की फिलॉसफी (Philosophy) कैसे मालूम होती।

मुझे निरुत्तर देखकर उसने रोषपूर्वक पूछा—"क्यों, चुप क्यों हो गए? तुम मुझे पतिता समझते हो? तुम समझते हो, मैं अपने पिता और जीजी के कुल को कलंकित कर दूँगी? तुम समझते हो, मैं भ्रष्टा हूँ, किसी पाप-भरे भाव से मैंने तुम्हें यहाँ पकड़ रखा है?"

उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी। मैं उसकी यह रौद्र मूर्त्ति देखकर काँप गया! विनम्र शब्दों में कहा—

"ऐसी भ्रान्त धारणा मेरे प्रति क्यों रखती हो गोपअली? जो हृदय तुम्हें भ्रष्ट समझेगा, जल जायगा; जो मस्तिष्क तुम्हें पतिता का रूप देगा, वह पागल होकर नष्ट हो जायगा। मेरा तो केवल इतना ही कहना है कि तुम्हारा यह मनोवेग अनुचित और आक्षेप-योग्य है।"

"परन्तु तुम ही कहो, मैं क्या करूँ जीजाजी! मैंने अपने हृदय को बहुत समझाया, पर वह मानता नहीं......।"

"तुम सोचो, तुममें और मुझमें लगभग दूनी अवस्था का फर्क है।" बात काटते हुए मैंने कहा।

"पर प्रेम क्या अवस्था-भेद समझता है? जन्म-जन्म के संस्कार

जब एक जीवन को दूसरे जीवन में मिलाना चाहते हैं, तो क्या अवस्था-भेद रह जाता है ?"

"यह प्रेम नहीं है गोपअली, यह तो तुम्हारी कल्पनाओं का विकार है। यह विकार इतना भयानक है जो तुम्हारे और मेरे जीवन को सदा के लिए नष्ट कर देगा। तुम नहीं जानतीं कि मेरे हृदय पर किसी और स्त्री का अधिकार है ?"

"जानती हूँ—सब कुछ जानती हूँ...पर... ।"

"तुम नहीं जानतीं, मेरा तन-मन, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सब कुछ करुणा के लिए समर्पित हो चुका है।" करुणा मेरी स्त्री का नाम था।

"उसी प्रकार जिस प्रकार मेरा सब कुछ तुम्हारे चरणों में निछावर हो चुका है।" उसकी वाणी में तीव्र अन्तर्दाह था।

"तुम्हें यह सोचना चाहिए, वह मेरी ब्याही है।"

"मैं सब कुछ सोचती हूँ, समझती हूँ, पर इससे क्या हुआ ? जीजी इस जन्म की तुम्हारी ब्याही हैं, मैं पूर्व जन्म की तुम्हारी ब्याही हूँ—जन्म-जन्म की ब्याही हूँ ! सृष्टि के आदि-काल से मैं तुम्हारी ब्याही, आज तुमसे पृथक् हूँ और मेरा आसन इस जन्म में किसी और ने छीन लिया है, तुमने मुझसे छीनकर किसी और को दे दिया है !" मेरे हाथों को वह बलपूर्वक अपने हाथों में पकड़े हुई थी। उसकी आँखें गङ्गा-यमुना हो रही थीं।"

उसकी यह दशा बड़ी ही करुणोत्पादक थी। मेरी आँखें अनायास ही गीली हो गईं। यह स्पष्ट था कि उसका हृदय अन्तर्वेदना की

भीषण ज्वाला से जल रहा था और उसका सारा व्यक्तित्व पीड़ा और अशान्ति की एक सीमाहीन शृङ्खला था। उसकी यह दशा देखकर मेरा हृदय कातर हो उठा। अनायास ही मेरे मुँह से निकल गया— "पर अब क्या हो सकता है, गोपअली ? जो कुछ हो गया है उसमें उलट-फेर कैसे हो सकता है ?"

"उलट-फेर भले ही न हो, पर बहुत-कुछ हो सकता है, क्या तुम करोगे ?"

"यदि धर्म और कर्तव्य के विरुद्ध न हो।"

"नहीं होगा।"

"यदि नीति और मर्यादा के विरुद्ध न हो।"

"नहीं होगा।"

"तब करूँगा—अवश्य करूँगा; मैं तुम्हारे लिए संसार में उस समय सब कुछ करूँगा।"

"करोगे ?"

"निश्चय—अवश्य।"

"तुम मेरी याद रखना !" काँपते स्वर से उसने कहा।

"याद रखूँगा गोपअली।" मेरी आँखों से आँसू बह रहे थे।

"मुझे कभी न भूलना।"

"कभी न भूलूँगा।"

"तुम इतनी ही बात याद रखना कि मैं तुम्हारे पूर्व जन्म की ब्याही हूँ— जन्म-जन्म की ब्याही हूँ, केवल इस जन्म में तुमसे पृथक् हूँ !"

"मैं इसी रूप में तुम्हें याद रखूँगा।"

"और मेरे लिए भगवान् से नित्य एक प्रार्थना करना।"

"कहो?"

"वह यह कि तुम्हारे वियोग में वह शीघ्र ही मुझे इस संसार से बुला ले।"

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में वह ठहरी नहीं। मेरा हाथ छोड़कर चली गई। मैं भौंचक-सा वहीं खड़ा रहा। मेरी बुद्धि काम न करती थी। बहुत देर तक मैं समझ न सका कि बीतनेवाली घटना वास्तविक थी अथवा आँखों का इन्द्रजाल था। उस समय मेरी बुद्धि सहसा स्तम्भित हो गई थी और मैं समझ न सका कि गोपअली मानवी है अथवा देवबाला! यह तो आज भी नहीं समझ सका; कभी समझ भी सकूँगा, यह भगवान् ही जाने!

उस रात को जब मैं बिस्तर पर गया, मुझे नींद नहीं आई। मेरी शृङ्खलाहीन विचार-धारा कभी वेग से, कभी मंद गति से, न जाने कल्पना के किन-किन प्रान्तों में जाकर, अंत में गोपअली की आश्चर्य-जनक विचित्रता में केन्द्रीभूत हो जाती। उस समय मुझे अपनी बूढ़ी दादी की कहानियों की याद आ गई।

कौन जानता था, बाल्य-जीवन का स्वर्ण-स्वप्न यौवन के पूर्ण विकास में इतने भीषण और उग्र रूप से मेरे जीवन में उथल-पुथल मचा देगा? कौन जानता था कि इस हाड़-माँस और वासना के संसार में एक दिन रूप की सर्वश्रेष्ठ महारानी मेरे ऐसे कंगाल के

हृदय-द्वार पर प्रणय की भिक्षा माँगेगी और वह भी उस समय जब प्रेम के मन्दिर में करुणा—मेरी प्राणप्रिया धर्मपत्नी—का इतना प्रबल अधिकार होगा !

सोचते-सोचते सबेरा हो गया, पर नींद न आई। मुझे ज्वर हो आया था। कुछ देर के बाद मालूम हुआ कि गोपअली को रात से ज्वर था। छुट्टी समाप्त होते ही अपनी धर्मपत्नी के साथ मैं अपनी नौकरी पर लौट गया, पर न तो गोपअली ही मुझसे मिली और न मैं ही उससे मिल सका !

एक वर्ष तक गोपअली का कोई समाचार न मिला। उसके बाद एक दिन अचानक उड़ती खबर मिली कि उसके पिता रुपये के लोभ से उसका विवाह पचास वर्ष के एक बूढ़े धनी पुरुष से कर रहे हैं। इस समाचार के ठीक पन्द्रह दिन बाद गोपअली का एक पत्र मिला। यह उसका पहला पत्र था। इस प्रकार लिखा था—

पूर्व जन्म के स्वामी,

पूर्व जन्म की तुम्हारी ब्याही विवश हो दूसरे के घर जानेवाली है। संसार की चक्की तो चलेगी ही—चाहे मैं चाहूँ अथवा न चाहूँ। दस-बारह दिनों में कोई मेरी माँग में सिंदूर डाल देगा और तुम्हारे रहते ही मुझे अपने कैदखाने में बन्द कर देगा।

पिछले वर्ष यहाँ से तुम्हारे जाने के समय मेरे मन में आया कि मैं तुमसे मिलूँ और जीजी के पैरों पर गिरकर तुम्हारे यहाँ एक साधारण नौकरानी बनने के लिए प्रार्थना करूँ— उस दशा में कम-से-कम बलात्

विवाह के इस घृणित व्यवसाय से तो छुट्टी मिल जाती। पर न मिल सकी। मिलने का साहस मुझमें न था!!

मैंने बहुत यत्न किया—मेरा हृदय नहीं मानता। यह प्रमाद भले ही हो, पर अब तो ऐसा मालूम होने लगा है कि यह प्रमाद जीवन के साथ ही जायगा। आज भी मैं तुम्हारी वही हूँ—तुमसे पृथक् की गई, तुम्हारी जन्म-जन्म की पत्नी। रह-रहकर मेरे मन में आता है कि मेरा सतीत्व अचल रहेगा और मेरे तन, मन, बुद्धि, और आत्मा पर तुम्हारे अतिरिक्त किसी भी पुरुष का अधिकार नहीं हो सकेगा। शेष हरि-इच्छा।

तुम्हारे चरणों की दासी,
पूर्व जन्म की ब्याही

पत्र पढ़ते ही गोपअली के सम्बन्ध की मेरी सारी चिंता, मेरा सारा घाव पुनः हरा हो गया। समझ में न आया, क्या उत्तर दूँ। "सब कुछ हरि के चरणों पर छोड़ दो।" इस आशय का एक पत्र उसे लिखा। अधिक मैं लिख ही क्या सकता था? गोपअली के लिए मेरे हृदय में आवश्यकता से अधिक सहानुभूति थी; पर वह व्यर्थ की सहानुभूति उसके किस काम आती? और मेरे पास उसे देने को था ही क्या? मेरा तो सब कुछ करुणा का था। मेरे समस्त व्यक्तित्व पर करुणा की छाप थी—आज भी है; जीवन-पर्यन्त रहेगा।

कुछ दिन बाद सुना, गोपअली का विवाह हो गया और वह अपने पति के घर चली गई। मन को शान्ति अवश्य मिली और हृदय का एक

बड़ा भारी बोझ सहसा उतर गया। सोचा, अब उसकी आत्मा को सुख मिलेगा, अब वह मुझे भूलने का प्रयत्न करेगी और समय अपनी स्वाभाविक गति से उसके हृदय से मेरी स्मृति मिटा देगा। समय जीवन के प्रत्येक आकर्षण को, चाहे वह कितना भी प्रबल क्यों न हो, बारी-बारी से मिटा देता है।

परन्तु भाग्य के विधान को कौन टाल सकता है ? ठीक तीन महीने बाद खबर मिली, गोपअली विधवा हो गई ! उसकी माँग का सिंदूर धुल गया। मुझ पर मानों वज्रपात हो गया। महीनों मैं रात को घंटों जगकर उसके लिए रोता; पर रोने से तो किसी तरह आत्मसन्तोष मात्र होता है— मनोव्यथा भी कुछ हद तक कम हो जाती है; किंतु जानेवाला लौटता तो नहीं ! मरा हुआ व्यक्ति और बीता हुआ समय, ये दोनों कभी नहीं लौटते—चाहे हजार चेष्टा करो !!

चाहा, गोपअली को एक पत्र लिखूँ; पर क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ, यह समझ में नही आया—उसे सन्तोष दिलाना विडम्बना मात्र होगी। गोपअली को संसार की साधारण वस्तुओं की आवश्यकता न थी, उसका पति स्वयं बहुत सम्पन्न आदमी था। हाँ, उसके जीवन की जो सबसे बड़ी कमी थी, उसकी पूर्त्ति हमारी शक्ति और चेष्टा, दोनों के बाहर की बात थी। वे सब बातें समझ-बूझ कर मैंने उसे कोई भी पत्र न लिखा।

तीन वर्ष बाद उसका दूसरा पत्र मिला। वह मैके जानेवाली थी और अपने पत्र में मुझसे मिलने का आग्रह किया था। न चाहते

हुए भी मैं उससे मिलने चला गया। उसके उस छोटे आग्रह को अस्वीकार करने की शक्ति मुझमें न थी। राह में केवल इसी उधेड़-बुन में था कि उससे कैसे मिल सकूँगा—उसके प्रति किस प्रकार सहानुभूति और समवेदना प्रकट कर सकूँगा। कुछ निश्चित न कर सका।

ससुराल पहुँचने पर ज्योंही उसे मेरे पहुँचने की खबर मिली, उसने बुलाया। उससे मिलने, मैं उसके पिता के घर गया। वह वहाँ मेरे स्वागत के लिए खड़ी थी। मेरी आँखें ज्योंही उस पर पड़ीं, मैं स्तम्भित हो गया! मालूम हुआ, मैं अचेत हो जाऊँगा। वह पहली गोपअली न थी। यौवन ने उसके नैसर्गिक रूप और आकर्षण में महान अंतर कर दिया था। मुझे मालूम हुआ, मानों प्रकाश और अन्धकार, दोनों ही उसके अधीन हैं और इच्छानुसार वह दोनों को ही क्रमशः एक दूसरे में परिणत कर सकती है। मेरा चरण-स्पर्श कर उसने प्रणाम किया; पर मैं मन्त्रमुग्ध की भाँति चुपचाप खड़ा रहा। कुछ बोल न सका। मुझे मौन देखकर उसने हँसते हुए कहा—"मुझे आशीर्वाद देने में भी तुम धर्मभ्रष्ट हो जाओगे?" उसके स्वर में व्यंग्य का मिश्रण था!

"गोपअली ... ... !" मैं आगे कुछ न बोल सका। मेरा कंठ भर आया। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न से कहा—"गोपअली, समझ में नहीं आता, मैं तुमसे क्या कहूँ, उयुपक्त शब्दों का अभाव है, और मैं नहीं जानता कि अपने भाव तुम पर किस भाँति प्रकट करूँ।"

"इतने घबराए-से क्यों मालूम होते हो ! मैं तुम्हारे गले का बन्धन नहीं हो रही हूँ—उस बन्धन को तो तुमने कभी ठुकरा दिया था !" उसके इन शब्दों में व्यंग्य और उपहास दोनों ही थे।

"गोपअली, जान पड़ता है, मानों मैं पागल हो जाऊँगा—विक्षिप्त हो जाऊँगा। तुम नहीं जानतीं, मेरे भीतर विपरीत भावनाओं के कितने अन्तर्द्वन्द्व चल रहे हैं !"

"मालूम होता है, तुम पर मेरे रूप का जादू चल गया है।"

"यह बात भी है।"

"तब तुम कैसे बचोगे ? तब तुम्हारा धर्म और तुम्हारी मर्यादा कैसे बचेगी ?"

"प्रयत्न करूँगा गोपअली, प्रयत्न करूँगा कि बच जाऊँ।" मेरे स्वर में दृढ़ता थी।

"और यदि न बच सके तब ?"

"उस समय आत्महत्या की शरण लेनी पड़ेगी, विषपान ही एक-मात्र सहारा होगा।"

मेरा यह उत्तर सुनकर गोपअली की मुद्रा गम्भीर हो गई। बोली—"तुम जीत गए, मैं हार गई, परन्तु तुम्हारी इस जीत में मेरी भी जीत है ; मैं तुम्हारी पत्नी हूँ—जन्म-जन्म की अपराधिनी पत्नी हूँ !"

हम दोनों ही चुप थे। कुछ देर के बाद उसने शान्ति भङ्ग की। बोली—"क्या सोच रहे हो ?"

"यही कि विधवा के रूप में तुम्हें देखनेवाली ये आँखें फूट क्यों नहीं जातीं ?"

"छिः, ऐसी अशुभ बातें मेरे सम्बन्ध में क्यों कहते हो ? मेरा विवाह हुआ ही कहाँ ? इस जन्म में तो मैं क्वाँरी ही हूँ !" उसकी वाणी में रोष था।

मैं स्तम्भित हो रहा। यौवन के पूर्ण विकास में गोपअली उसी प्रकार अल्हड़, वैसी ही विचित्र थी। बोला—समझ-बूझकर बातें करो गोपअली ! तुम अब सयानी हुई—बालिका नहीं हो।"

"मैं जानती हूँ ... ... मैं जानती हूँ, युवती होने पर किसी को बताना नहीं पड़ता। मुझे यह जानने के लिए तुम्हारे बतलाने की आवश्यकता नहीं।" वह हँसने लगी।

"फिर तुम गँवारों की तरह बातें क्यों करती हो ?" क्रुद्ध होकर मैंने पूछा।

इसमें गँवारों की कौन-सी बात है ? मेरा विवाह थोड़े ही हुआ था ? वह तो रूप का रुपये से सौदा हुआ था; परन्तु बेचारे खरीदने वाले के रुपये भी नष्ट हुए और वह सौदे का उपभोग भी न कर सका !" उसकी आँखों से ज्वाला बरस रही थी।

उसका यह रूप देखकर मैं सहसा सहम गया। बोला—"कैसी बातें करती हो, यदि तुम्हारे घरवाले सुन लें तब ?"

"मजाल है सुन लें। वे मेरे गुलाम हैं। कभी मैं उनकी चिड़िया थी। चिड़िया का महँगा सौदा करके उन्होंने बेंच दिया। अब वह

चिड़िया आज अतुल सम्पत्ति की अधिकारिणी है, इसलिए आज वे मेरे गुलाम हैं और इसीलिए मेरी आँखों से देखते हैं—मेरे कानों से सुनते हैं। देखते नहीं हो, लाखों की सम्पत्ति इन्हें दे दी!" उसके शब्द घृणा से जलते थे!

मैं हतप्रतिभ और निरुत्तर हो गया था। मुझे जान पड़ा, मानो मैंने कोई बड़ा भारी पाप किया हो। वह भी चुप थी। थोड़ी देर बाद बोली—"तुम जानते हो, मैंने तुम्हें किस लिए बुलाया था?"

"जादूगर तो हूँ नहीं, और न अन्तर्यामी ही हूँ।"

"अन्तर्यामी भले ही न हो, पर जादूगर तो अवश्य हो।" सरल हास्य से उसने कहा। फिर बोली—"तुम्हें बगीचे की बात स्मरण है?"

"उसे कैसे भूल सकता हूँ?"

"तुम्हें याद है कि तुमने मेरी उन बातों पर कहा था—"पागल लड़की, तुम उस रोग को क्या जानो? अभी तो तुम्हारे खाने-खेलने के दिन हैं; अभी तुम कितने दिन की हुई?"

"याद है।"

"तुम्हें याद है, तुमने मेरे उस पवित्र प्रेम को मोह और प्रमाद कहा था?"

"याद है।"

"अब तो मैं लड़की नहीं हूँ?"

"नहीं।"

"अब तो मैं प्रेम समझने योग्य हूँ?"

"इसे तुम जानो, मैं कैसे कहूँ ?"

"मेरा तात्पर्य यह है, अब तो मैं पूर्ण युवती हूँ ?"

"हो।"

"युवती तो प्रेम का अनुभव कर सकती है ?"

"ये सब बातें क्यों पूछती हो ?"

"अभी बतलाती हूँ—तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो। कहो, तुम मुझे कुलटा अथवा पतिता तो नहीं समझते ?"

"छिः, ऐसा समझनेवाला स्वयं पतित होगा।"

"तब मैं उस बगीचेवाली बात को आज फिर भी दुहराती हूँ। मैं तुम्हें अपने कर्तव्य अथवा धर्म से पतित करना नहीं चाहती। यही कहने के लिए मैंने तुम्हें यहाँ बुलाया था। एक बार तुम्हारे दर्शन की भी इच्छा थी ! हाय ! बहुत यत्न करने पर भी मैं तुम्हें भूल न सकी। सभी एकादशी और रविवार के व्रत रखती हूँ। महीने में आधे दिन के लगभग भूखी रहती हूँ; कितनी पूजा, कितना जप करती हूँ, पर तुम नहीं भूलते। तुम्हारी सूरत आँखों के सामने सोते-जागते सदा नाचा करती है। केवल यही कहना था। बस, अब तुम चले जाओ।"

इसके बाद उसने मेरा चरण-स्पर्श किया और चुपचाप जाने लगी। अचानक आधी राह से लौट आई और कहा—

"एक प्रतिज्ञा करो।"

"कहो।"

"मैं जब तुम्हें बुलाऊँगी, आओगे ?"

"आऊँगा।"

उस समय उसकी आँखों में कल्पनातीत पीड़ा थी। यत्न करने पर भी मेरे आँसू रुक न सके। चित्त शान्त होने पर वहाँ से चल दिया।

४

सन् १९३३ ई० की २०वीं जुलाई को मुझे गोपअली का एक पत्र मिला। वह बहुत बीमार थी। उसने मुझे देखने को बुलाया था।

उसके पत्र के साथ ही इन्स्पेक्टर जनरल के ऑफिस से मुझे एक पत्र मिला। मैं पुलिस इन्स्पेक्टर बना दिया गया था और साथ ही मेरी बदली पटने को हो गई थी। अच्छा संयोग हाथ लगा।

पटने में सब सिलसिला ठीक कर उससे मिलने गया। नौकरानी मुझे एक बहुत ही सजे हुए कमरे में ले गई। कमरे की सजावट देखकर मैं दंग रह गया। मैंने गोपअली को इतना सम्पन्न नहीं समझा था। वह दो नौकरानियों के सहारे उठकर बैठ गई। बैठते ही उसने संकेत किया और एक के अतिरिक्त अन्य सभी नौकरानियाँ चली गईं। अस्वस्थता के कारण वह बहुत ही क्षीण और कमजोर हो गई थी; परन्तु उसका रूप पहले से भी अधिक निखर आया था। उसमें वह तेज आ गया था जो कदाचित् बुझनेवाले दीपक की अन्तिम निश्वासों में उतर आता है। आवश्यक शिष्टाचार के बाद उसने कहा—

"प्रेम का यह अन्तिम मिलन है।" उसकी आँखें भरी हुई थीं। पास ही खड़ी हुई नौकरानी के सामने मेरी झिझक देखकर उसने कहा—"सङ्कोच की कोई बात नहीं, यह सब कुछ जानती है। मैंने इससे......।"

वह कह ही रही थी कि बात काटकर मैंने कहा—"तुम्हारा वह मनोविकार अभी दूर नहीं हुआ? परन्तु मैं अब यहाँ स्थायी रूप से आगया हूँ। अब मैं तुम्हारी चिन्तन-धारा को शीघ्र ही दूसरी दिशा में बदल दूँगा।"

वह हँसने लगी। बोली—"अब क्या बदलोगे? जब बदलना था तब तो बदला नहीं, अब तो नाव नदी के किनारे है।" उसकी हँसी में पीड़ा और जलन थी।

"ऐसी बातें न करो गोपअली, तुम शीघ्र ही भली-चङ्गी हो जाओगी।" सांत्वना देते हुए मैंने कहा।

"यह तो मैं भी जानती हूँ, मैं शीघ्र ही भली-चङ्गी हो जाऊँगी और साथ ही तुम्हारी बला भी इस संसार से दूर हो जायगी।"

"मेरी बला क्यों? मेरे शत्रुओं की बला! ऐसी बातें क्यों करती हो गोपअली? तुम मेरी बला कब थीं, कब हो? इसके विपरीत तुम तो मेरी प्रेरणा-शक्ति हो।"

आश्चर्य और कौतूहल से उसने पूछा—"क्या कहते हो? मैं तुम्हारी प्रेरणा-शक्ति हूँ?"

"तुम मेरी प्रेरणा-शक्ति हो। तुम मेरे लिए जीवन की वह प्रेरणा-

शक्ति हो जिसे देखकर मैं प्रभु की सुन्दर चित्रकारी, उसकी श्रेष्ठतम कला का अनुभव पा सका हूँ। तुम रह-रहकर मेरे हृदय में भगवान् की भक्ति उत्प्रेरित करती हो।" मैंने कातर स्वर से कहा।

"फिर तुमने मुझे ठुकराया क्यों? तुमने मुझे अपनी दासी—बहिन की दासी के रूप में क्यों न रख लिया? यदि मुझे तुम्हारे यहाँ झाड़ू देने का भी अवसर मिल जाता तो मैं इस अतुल सम्पत्ति पर लात मार देती। मैंने तुम्हें पत्र लिखा, इस भयानक जीवन से बचने के लिए पत्र लिखा; पर तुमने उसका उत्तर देना भी पाप समझा। वही तुम आज इन बातों से मुझे भुलावा देने आए हो।"

उसकी ये बातें सुनकर मैं लज्जित हो गया। आत्मग्लानि से मेरा हृदय टूक-टूक हो गया। सोचा, संसार कितना अनुदार है, इसमें असंख्य प्राणी यथार्थ दृष्टिकोण से नहीं देखे जाते! संसार उन्हें केवल इसलिए ठुकरा देता है कि वह उनके अन्तर्जगत् की गहराई नापने का प्रयत्न नहीं करता। मुझे चुप देखकर वह बोली—"क्या सोच रहे हो? बोलते क्यों नहीं? यह तो अन्तिम मिलन है!"

"सोचता हूँ, तुम मेरे प्रति कितनी अनुदार हो। ऐसा होना भी स्वाभाविक है। प्रायः सभी दृष्टि से तुम मुझसे बड़ी हो, महान् हो। रूप, गुण, धन, मर्यादा, सभी बातों में तुममें और मुझमें आकाश-पाताल का अन्तर है। फिर इस दशा में तुम मेरी बातों को, मेरे भावों को, किस भाँति समझ सकोगी? इस दशा में तुम यह बात कैसे समझ सकोगी कि तुम्हारे लिए मेरे हृदय में ज्वालामुखी से भी अधिक उद्वेग है!"

मेरी गीली आँखें देखकर वह पिघल गई। बोली—"यदि यह बात थी तो तुमने पहले क्यों नहीं कहा......?"

बात काटते हुए मैंने कहा—"कदाचित् तुम मेरे भावों को न समझ सकतीं ; समझ भी न सकोगी। मैं तुम्हें क्या कहता ? इस जीवन में तुम्हारे और मेरे प्रेम अथवा विवाह का द्वार बन्द था ; पर यदि ऐसा न भी होता, तब भी मैं तुमसे विवाह न करता। तुम्हारा यह अतुल रूप विवाह अथवा सांसारिक प्रेम की नहीं, वरन् भक्ति और उपासना की वस्तु है। जरा सोचो भी—तुम्हारा यह पागल बना देनेवाला रूप और मेरी यह वीभत्स कुरूपता !!"

"कैसी बातें करते हो तुम ? तुमने अपने रूप-लावण्य को मेरी आँखों से क्यों नहीं देखा ? तुम मेरे लिए संसार के सबसे सुन्दर पुरुष हो। तुम्हारे अतिरिक्त इस संसार में कोई दूसरा पुरुष है ही नहीं ! तुम इस महारूप को मेरी आँखों से क्यों नहीं देख लेते ?" यह कहते हुए उसने अपनी दोनों बाँहें मेरे गले में डाल दीं।

मेरा सिर घूम गया। मेरे हृदय में एक बवंडर उठ रहा था। प्रायः अर्ध-विक्षिप्त दशा में मैंने कहा—"ओ रूप की रानी ? ओ सत्य और प्रेम की जीवित प्रतिमा !!" आगे मैं बोल न सका, मेरा गला भर आया था।

"मेरे पति, मेरे अशरण-शरण !" कुछ देर रुक कर वह फिर बोली—"पर अब क्या होगा ? अब तो मैं चली। तुम्हारे वियोग के असह्य दुख में मैंने धीरे-धीरे अपना नाश कर लिया है।" इसके

बाद उसने एक शीशी की ओर सङ्केत किया। वह slow poison था !"

मुझ पर मानों बिजली गिर गई। काटो तो शरीर में खून नहीं। शक्ति-संचय कर कुछ देर के बाद बड़ी कठिनाई से बोला—"पापिन, तूने मुझे किसी ठौर का न रखा। अपने साथ तूने मेरा भी सर्वनाश कर दिया !"

"अब भी एक काम कर सकते हो, पर तुम्हें कुछ स्वार्थ त्याग करना होगा।"

"करूँगा, अब सब कुछ करूँगा—तुम-जैसी मायाविनी......!" मैं आगे कुछ न बोल सका।

"तो मरते-मरते मुझे दुःख न दो ; मरते-मरते मेरे सौभाग्य की लालसा पूरी कर दो। देखो, मैं अब तक क्वाँरी हूँ।" रोती हुई उसने कहा।

"क्या पागल हो गई हो !"

"नहीं, पागल नहीं हूँ, मेरे प्राण ! पागलपन-जैसी अच्छी वस्तु के लिए मेरा सौभाग्य कहाँ !"

"फिर तुम उसके प्रति क्यों चूक रही हो, जिसने तुम्हारी बाँह पकड़ी थी !"

"छिः, कैसी अपवित्र बातें करते हो ! मैंने आज तक तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे पुरुष को जाना ही नहीं। तुम्हारी शपथ, उसने मेरा स्पर्श तक नहीं किया। जब वह मेरे पास आया, मैंने रो-रोकर सारी

बातें उससे कह दीं। बेचारा सीधे पाँव वापस लौट गया और दो महीने भी न जी सका। उसके प्रति मेरे भाव कृतज्ञता के हैं, पत्नी के नहीं।"

"तब मुझसे तुम क्या चाहती हो?" मेरा हृदय भर आया था।

"बस, यही कि मुझे क्वाँरी न मरने दो। एक बार मेरी माँग में सिंदूर डालकर अपनी पत्नी कह दो। यदि अपना असल प्रेम नहीं दे सकते तो कम से कम उसका स्वांग ही सही। मरते समय यह तो सन्तोष रहेगा कि तुम्हारी गोद में—अपने पति की गोद में मरी!!"

जड़भरत की भाँति उस समय मैं शून्य और निश्चेष्ट था! मेरी दशा एक निर्जीव मशीन की भाँति थी जो दूसरों के चलाने से चल पड़ती है—रोक देने से रुक जाती है। नौकरानी पास में ही सोने के डिब्बे में सिंदूर लिए खड़ी थी। मैंने काँपते हाथ से उसे उसकी माँग में डाल दिया।